● प्रकाशक :

श्री मुक्तिकमल जैन मोहन ग्रन्थमाला,
कार्याधिकारी, पनालाल लालचन्द शाह
ठि. कोठीपोल, मछासदन, वरोडा

● मुद्रक

धैर्यकुमार सी शाह
आशा प्रिन्टर्स, १०८, केशवजी नायक रोड,
वम्बई-९

● कीमत रु १० (पोस्टेज अलग)

● प्राप्तिस्थान :

१ श्री मुक्तिमल जैन मोहन ग्रन्थमाला,
कार्याधिकारी, श्रीयुत पनालाल लालचन्द शाह
कोठीपोल, मछासदन, वरोडा (गुजरात)

२ वावु अमीचन्द पनालाल
जैन देरासर ट्रस्ट
४१, रीजरोड, वम्बई-६.

३ ऋषभदेवजी जैन मदिर
१०वा रास्ता-चेम्बूर, वम्बई-७१

४. अनुवादक "प्रकाश श्रमण"
१०, गोविन्दनगर, मलाड पूर्व,
वम्बई-६४.

● हिन्दी प्रथम आवृत्ति · १०००
सवत २०३१

अहिंसाकी महान् विभूति, प्राणी मात्रका उद्धारक,
विश्ववत्सल तीर्थंकर श्रमण भगवान महावीर।

वाबू अमीचंदजी पनालाल दहेरासर ट्रस्ट
(वालकेश्वर)

आभार दर्शन

तीर्थंकर श्रमण भगवान श्री महावीर स्वामीजी के २५०० वें निर्वाण कल्याणक प्रसंग में श्री महावीर को यथाशक्ति भावांजली अर्पित करने हेतु इस पुस्तक के प्रकाशन की सारी आर्थिक जिम्मेदारी वालकेश्वर (बम्बई) के बाबु अमीचदजी पनालाल जैन दहेरासर ट्रस्ट ने उदारता से अपने हाथो में संभाल ली है इसके लिये हम ट्रस्टी मंडल को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

प्रकाशक

हिन्दी अनुवाद की प्रथम आवृत्ति के संदर्भ मे प्रकाशक का निवेदन

श्री मुक्तिकमल जैन मोहन ग्रन्थमाला की ओर से आजतक संस्कृत—प्राकृत तथा गुजराती भाषा में अनेक मननीय ग्रन्थो का प्रकाशन हुआ है तथा जैन सघ मे इन ग्रन्थो को बहुत ही सम्मान मिला है। कुछ एक ग्रन्थो की तो दो दो तीन तीन आवृत्तिया निकलने पर भी आज वे ग्रन्थ उपलब्ध होना कठिन सा हो गया है, इसी मे इन की महानता का पता चलता है।

श्रमण भगवान महावीर देव की आत्मा को नयसार के भव में सम्यग् दर्शन प्रगट हुआ और तभी से इन महान तारक परमात्मा के भवो की गिनती का प्रारम्भ होता है। नयसार के भव मे भगवत की आत्मा को आत्म स्वरुप का दर्शन हुआ और महावीर के भव में आत्म स्वरुप का सपूर्ण साक्षात्कार हुआ। नयसार के इस भव से महावीर का भव स्थूल भवो की सख्या अपेक्षा से सत्ताईसवा भव था। इस ग्रन्थ में सत्ताईसवे वर्धमान महावीर के भव का जीवन वृतान्त का निरूपण नही है परन्तु नयसार के भव से प्रारम्भ करके छब्बीसवे प्राणत नामक दसवे देवलोक में देवता रूप रहने तक का वृत्तान्त है।

इस ग्रन्थ में उन जीवन प्रकरणो के साथ साथ, भगवान महावीर के छब्बीस भव सम्बन्वित जीवन प्रसगो के आलेखन के साथ शास्त्रीय विषयो की भी समीक्षा—निरूपण भी इस ग्रन्थ में किया गया है, इसी कारण से इस ग्रन्थ का महत्व और भी बढ गया है जिस से

सभी विषयो को पाठक गण—इस ग्रन्थ पाठन से सरलता पूर्वक समझ सकते है।

परमपूज्य आचार्य श्री विजय धर्म सूरीश्वरजी महाराज श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैन सप्रदाय मे एक अग्रज तथा सर्वमानव आचार्य रूप मे जाने जाते है तथा जैन तत्वज्ञान का उन्हे प्रकाड विद्वान माना जाता है। आचार्य भगवान अपनी व्याख्यान शैली मे जैन तत्वज्ञान के दर्शन को समझाने मे महानतम सफल विभूति रूप प्रसिद्ध है। यू भी श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सघ में द्रव्यानुयोग आदि शास्त्रीय विषयो पर वे एक कुशल व्याख्यान कर्ता सर्वमान्य हैं। जिनमूर्ति—जिनमदिर—जिनागम आदि जैनशासन के सप्त क्षेत्रो की पुष्टि के लिये तथा सावर्मिक भक्ति तथा अनुकपादान आदि क्षेत्रो के पोषण हेतु आपश्री सदा ही अपने उपदेश मे सुचार रूप से मार्गदर्शन प्रवृत्त माने जाते है। यही कारण है कि पुण्यवन्त श्रावक आपश्री के मार्गदर्शन से प्रेरणाद्वारा—उत्साहित होकर हजारो—लाखो की धनराशि ऊपर कथित क्षेत्रो में सब समर्पित कर भव भव का पुण्यार्जन करते है।

अंजन शालाका—प्रतिष्ठा—उपधान तथा ऊजमण आदि महोत्सव तो सख्यावद्ध गिनती मे आपश्री की देखरेख में सदा ही होते रहते है। इन महोत्सवो की सफलता के प्रसग मे, जैन तथा जैनेतर जगत में जिन शासन की सुन्दर प्रभावना के कारण "शासन प्रभावक" रूप मे आपश्री को वैसे भी सभी अद्वितीय मानते है। पूज्य श्री जैन सघ के एक आदर्श श्रद्धेय आचार्य माने जाते है। आपके द्वारा सरल सुन्दर तथा प्रासादिक भाषा मे लिखे "श्रमण भगवान महावीर के २६ भव" का निरुपण करने वाली इस पुस्तक की दो दो गुजराती आवृत्तिया हजारो की सख्या मे छपने पर भी आज उनका मिलना दुर्लभ सा हो गया है। जिन जैन विद्वानो ने इस पुस्तकको पढा है सभी ने इस पुस्तक को पाठको की ओर मे अत्यधिक आदर तथा प्रशसा

प्राप्त हो चुकी है। प्रथम यह पुस्तक केवल गुजराती भाषा मे ही प्रकाशित हुई थी—परन्तु गुजराती भाषा से अनभिज्ञ हिन्दी के पाठको के समक्ष जब यह पुस्तक पहुची तो उन्होने इसका हिन्दी अनुवाद भी करवाने की माग की, जिससे हिन्दी के पाठक भी इसका समुचित लाभ उठा सके। पू मुनि श्री यशोविजयजी महाराज की भी यह हार्दिक इच्छा थी कि इस पुस्तक का हिन्दी रुपान्तर हो जिससे बहुप्रचलित हिन्दी भाषी समुदाय को इसका महत्व ज्ञात हो सके। इस उज्वल भावना से पू मुनि यशोविजयजी महाराजने वालकेश्वर (बम्बई) के बाबू अमीचदजी पनालाल आदीश्वर जैन देहेरासर ट्रस्ट के ट्रस्टी मडल को आग्रह पूर्वक—तीर्थकर श्रमण भगवान श्री महावीर के २५०० वे निर्वाण प्रसग में किसी भी प्रकार से—भगवान श्री महावीर को भावाजली अर्पण हेतु—प्रेरणा की—और इस प्रेरणा को ट्रस्टी मडलने अपना अहोभाग्य मानकर सराहा। इसी के फल स्वरुप—भगवान महावीर के २६ पूर्व भव का प्रेरणादायक उच्चतम कक्षा का अभूतपूर्व लेखन—इस पुस्तक रुप मे आज प्रगट हो रहा है। इसके लिये हम ट्रस्टी मडल के अत्यन्त आभारी हे और ऐसे ही उदारता पूर्ण सहकार वे भविष्य मे हमारी सस्था को देते रहेगे—यह हमारी नम्र विनति है।

पू गुरुदेव की प्रेरणा से इस ग्रन्थ को हिन्दी भाषा में प्रगट करने का सौभाग्य हमें प्रथमवार मिला है हमें इस पर हर्ष हो रहा है—वैसे हिन्दी भाषा का यह हमारा दूसरा प्रकाशन है।

इस ग्रन्थ को सभी पढें—विचारे—और अपने आत्ममदिर में प्रकाश ज्योति फैलाए—

इसी भावना हेतु

पनालाल लालचन्द

प्रथम आवृत्ति प्रसंग में लिखा हुआ चरित्र लेखक पूज्य आचार्य महाराज का यह निवेदन है

आज से लगभग दस या ग्यारह वर्ष पहले श्री जैनश्वेताम्बर कान्फ्रेन्स के मुख्य पत्र "जैन युग" मासिक के सपादक तथा उप-सपादक की ओर से मेरे पास लेख के लिये आग्रह भरी माग आई। उस समय भगवान महावीर के जन्मकल्याणक चैत्र सुद त्रयोदशी के पवित्र दिन का समय निकट होने के कारण—इसी श्रमण भगवान महावीर परमात्मा के किसी जीवन प्रसग पर ही "कोई लेख लिखू" यह भावना मेरे हृदय में उठी। भगवान महावीर तो प्रभु—परमात्मा अथवा तीर्थकर—श्री वर्धमान (महावीर) के भव मे हुए, परन्तु पर-मात्मा होने का मगलाचरण तो नयसार के भव में ही हुआ—अत इसी नयसार के जीवन प्रसग से लेख शुरु करु इस निश्चय से लेख का प्रारम्भ किया।

प्रथम लेख लिखने के बाद—दूसरे अक में दूसरा भी लेख लिखने की इच्छा जागृत हुई। इस प्रकार लेखो की श्रृखला बनने से—पाठको द्वारा बारबार इस क्रम को चालू रखने का आग्रह बढता गया, इस कारण से लेख लिखने का प्रवाह सतत चालू ही रहा। सयोग-वश "जैनयुग" का प्रकाशन बद हो गया और लेख श्रृखला टूट गई।

सद्भाग्य से "सुघोषा" के सम्पादक श्रीयुत् सोमचन्द—डी—शाह के हृदय में इन लेखो को पुन अपनी पत्रिका मे उद्धृत कर छापने की इच्छा जागृत हुई, अत उन्होने अपनी पत्रिका में इन्हे फिर से छापना शुरु कर दिया और वे क्रमश छपने लगे। जितने भी लेख "जैन युग" में प्रकाशित हुए ये सभी "सुघोषा" मे थोडे बहुत

आचार्यदेव १००८ श्रीमद् विजयधर्मसूरीश्वरजी महाराज

संशोधन रूप प्रकाशित हो गए परन्तु "सुघोषा" के सम्पादक महोदय तथा उनके पाठकों द्वारा आगे के लेखों की मांग तथा आग्रह के बढ जाने से इस लेखमाला को आगे बढना पडा।

इसी दौरान मुझे हृदय रोग के कारण पीडित रहना पडा—शरीर अस्वस्थ हो गया। मुंबई में स्थिरता के कारण—शासन के अन्य-कार्यों तथा साधुओं के पठन–पाठन में अत्यधिक लगे रहने से इस लेख माला के चालू रखने में कितनी ही बार रुकावटें खडी होती रही शृंखला टूटती रही— फिर शरीर की अस्वस्थता के कारण तो इस में भारी रुकावट पड गई। इस प्रकार भगवान महावीर के स्थूल सत्ताईस भवों में से बाइस–तेईस तक के भवों के बाद की लेखमाला का लेखन एकदम बंद सा हो गया। स्वस्थ होने पर पच्चीस वें नन्दन मुनि के भव तक यह लेखमाला फिर चालू हूई। अब इस के उपरान्त के लेख लिखना तो अनेक प्रकार के धार्मिक प्रवृत्ति कारणों से तथा दूसरे कारणवश रुक ही गया।

जिन जिन महानुभावों ने इन लेखों को पढा था—उन में से कितनेक ने इन लेखों को व्यवस्थित एक रूप में संचय कर—अधूरे कार्य को पूर्ण करने का आग्रह किया। जिस से वर्तमान जैन शासन के अधिपति श्रमण भगवान महावीर प्रभु के जीवन पर एक मननीय ग्रन्थ चतुर्विध संघ तथा जैनेतर जनता के समक्ष प्रस्तुत हो सके यह आग्रह बढता ही गया। श्रमण भगवान महावीर का सम्पूर्ण जीवन चरित्र लिखने की भावना होते हुए भी ऐसा करने में काफी समय लगेगा, यह विचार कर—इस समय तो नयसार के भव से प्राणत देवलोक में देव भव तक का छव्वीस भव का ही एक स्वतन्त्र विभाग तैयार किया जाय—ऐसा निर्णय किया गया। इस ग्रन्थमाला के कार्यवाहकों द्वारा इस निर्णय का सहर्ष स्वागत हुआ और यह भावना अमल रूप में आ गई।

विश्ववद्य भगवान महावीर के छव्वीस भवो का वृत्तान्त लिखना यह कोई सामान्य बात नही हैं। मेरे जैसे मदबुद्धि के लिये यह लिखना तो अशक्य सा लगता था, परन्तु मेरे अपने क्षयोपशम वृद्धि के कारण तथा इसी निमित्त से इन तारक परमात्मा के गुणगान द्वारा प्रभु भक्ति के लाभ हेतु यह ग्रन्थ मैंने लिखा।

मेरे अभ्यास मे कोई त्रुटि के कारण, अथवा छद्मस्थ सुलभ उपयोग की शून्यता के कारण—भगवान महावीर के छव्वीस भवो के निरुपण मे यदि कोई शास्त्र विरुद्ध निरुपण हुआ हो तो उसके लिये मैं—मिच्छामि दुक्कड करते हुए—मैं प्रार्थना करता हू कि वाचक इस ग्रन्थमाला के कार्यवाहक को सूचित करे।

भगवान महावीर के छव्वीस भवो का निरुपण पढने से अपने जीवन मे हमें सभी को जीवात्मा मे से परमात्मादशा के मार्ग पर प्रयाण करने की शक्ति प्रगट हो इसी अतिम भावना से

ग्रन्थ लेखक

आदि वचन

जैन धर्म मे सर्वोच्च स्थान तीर्यकर का है। जैन धर्म के नवकार महान मत्र मे पहले अरिहतो को फिर उसके बाद सिद्वो को नमस्कार किया गया है क्यो कि सिद्धो को स्वरुप वताने वाले अरिहत ही होते है, इसलिये उनका उपकार सवसे वडा है वैसे तो सिद्ध वुद्ध और मुक्त आत्मा की सर्वोच्च स्थिति है पर सिद्व के शरीर, इन्द्रिया आदि नही होती, इसलिये वे किसी का प्रत्यक्ष उपकार नही कर सकते जब कि अरहत—तीर्थ कर अपनी लवी आयुष्य मर्यादा में लाखो करोडो व्यक्तियो को मोक्षमार्ग वतलाते है। उनसे अनेको व्यक्ति प्रतिवोध पाकर मोक्ष लाभ कहते है। साधु साध्वी, श्रावक, श्राविका रुप चतुर्विध सव या तीर्थ की स्थापना करने के कारण ही अरहतो को तीर्थ कर कहा जाता है वे अपने पूर्व जन्मो मे गुणी व्यक्तियो की भक्ति और सेवा करते है इसी के फल स्वरुप सम्यक् दर्शन प्राप्त करके आत्मोन्नति मे आगे वढते जाते है। तीर्थ कर जन्म से पहले के पहले भव में वे वीस स्थानक या (षोडशकारणो) की आराधना करते है और सव जीवो के कल्याण की कामना वडी तीव्र भावसे करते है इसलिये तीर्थ कर नामकर्म और महान पुण्योदय का विशिष्ठ कर्म वन्ध होता है जिसके परिणाम में तीसरे जन्म में वे तीर्थंकर वनते है उनमे ऐक विशिष्ठ प्रकार की योग्यता रहती है जिससे गर्भ और जन्म से लेकर कई अतिशय प्रकट होते हैं। आगे चलकर वे सन्यास अर्थात् साधु धर्म की दीक्षा लेकर साधना करते हैं। फिर केवलज्ञान पाकर सर्वत विचरते हुए धर्मोपदेश देते रहते है। उनकी वाणीसे प्रभावित होकर हजारो व्यक्ति सर्व विरति धर्म और लाखो व्यक्ति देशविरति धर्म तथा सम्यक दर्शन को प्राप्त करते हुए आत्म कल्याण करते है।

ऐसे महान उपकारी व्यक्ति को सर्वोच्च स्थान देना सर्वथा उपयुक्त ही है उनके प्रवर्तित तीर्थो को आचार्य समंतभद्रने सर्वोदय तीर्थ की ही समना दी है।

जैन मान्यता के अनुसार पाच भरत पाच अैरवत् क्षेत्र में उत्कर्प और अपकर्ष कालजिसे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल कहा जाता है दोनो को मिलाकर कालचक्र वना रहता है। प्रत्येक उत्कर्स और अवनतकाल के तीसरे चोथे आरो मे चौवीस तीर्थंकर जन्म लेते है। हम लोग जहा निवास करते हैं वहा दक्षिण भरत क्षेत्र है और वर्तमान काल अवसर्पिणी अर्थात् ह्रासमान काल है उसके तीसरे ओर के काल मे प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव हुए, जिन्होने वर्तमान भारतीय सभ्यता का सूत्रपात किया उसके वडे पुत्र भरत प्रथम चक्रवर्ती हुए उन्हो के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष या भरतक्षेत्र पडा। भगवान ऋषभदेवने अपनी पुत्रियो के लिए और अक अर्थात् लिखने और गणित का ज्ञान और चोसठ कलाये सिखलाई व पुरुपो को ७२ वलाये या विद्याये सिखाई असि, मसि और कृषी और सभी तरह के जीवनोपयोगी हुनर सिखाये इसलिये ऋषभदेव, आदिनाथ, आदीश्वर, कहलाये भागवत् पुराण मे भी उनको अवतार मानते हुए जैन धर्म का प्रवृतक वतलाया गया है।

ऋषभदेव के बाद अजितनाथ आदि २० तीर्थंकर और हुए, उसके वाद भगवान अरिष्टनेमि २२ वे तीर्थंकर हुए जो पुरुषोत्तम श्री कृष्ण के चचेरे भाई थे।

महाभारत के युद्ध को इतिहास माना जाय तो भगवान नेमिनाथ को भी एतिहासिक पुरुष मानना ही चाहिये प्राचीन आगमो मे महाभारत ग्रन्थ का नाम इतिहास ही दिया गया है। भगवान नेमिनाथ की मथुरा आदि में कुछ ऐसी प्राचीन मूर्तिया मिली है जिनके साथ

कृष्ण बलराम भी उत्कीर्णित हैं। इसलिये उनके घनिष्ठ सबंध की पुरातात्विक साक्षी भी प्राप्त है। जैनागमो के अनुसार श्रीकृष्ण भगवान अरिष्ठनेमि के बडे ही भक्त थे। नेमिनाथ का निर्वाण गिरनार पर्वत पर हुआ। नेमि राजुल की गाथा बहुत ही प्रसिद्ध है। तेइसवे तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ पुरुषादानीय को तो सभी ऐतिहासिक महापुरुष मानते ही हैं। भगवान महावीर के निर्वाण से पार्श्वनाथ का निर्वाण केवल २५० वर्ष पूर्व ही हुआ था भगवान पार्श्वनाथ के साधु, साध्वी और श्रावक, श्राविका भगवान महावीर के समय में विद्यमान थे भगवान महावीर के पिता और मामा भगवान पार्श्वनाथ के ही अनुयायी थे। दि दर्शनसार ग्रन्थ के अनुसार तो महात्मा बुद्धने भी पार्श्व परम्परा में ही पहले दीक्षा लीथी भगवान पार्श्वनाथ का निर्वाण सम्मेतासिखर पर हुआ था २४ तीर्थंकरो में उनकी प्रसिद्ध सबसे ज्यादा हैं। पार्श्वनाथ के मदिर एव मुर्तिया स्तोत्र स्तवन आदि भी स्र्वाधिक प्राप्त है। भगवान पार्श्वनाथ के कई साधु भगवान महावीर की परम्परा मे सम्मिलित हो गये हैं। भगवान पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्मका प्रवर्तन किया था उनमे से चोथे याम अपरिग्रहव्रत में सशोधन करके ब्रह्मचर्य को अलग व्रत बतलाते हुए भगवान महावीरने पचमहाव्रत रूप धर्म का प्रचार किया था उतराध्ययन सूत्र के केशी गौतम सवाद में पार्श्व और महावीर के धर्म का अन्तर स्पष्ट किया गया है।

अब से २५७२ वर्ष पहले चौवीसवे तीर्थंकर भगवान महावीर का जन्म हुआ जिनका मूल नाम वर्धमान था। ३० वर्ष की आयु में उन्होने ग्रहत्याग करके मुनि दीक्षा ग्रहण की साढेबारह वर्षो तक महान कठिन साधना करके उन्होने केवल ज्ञान और केवल दर्शन प्राप्त किया। तदन्तर चतुर्विध सघ की स्थापना करके ३० वर्षों तक अनेक स्थानो में धर्म प्रचार करते हुए अबसे २५०० वर्षो पहले

मध्यम पावामे निर्वाण को प्राप्त हुए इसी उपलक्षे मे अभी भारत भर में और विदेशो मे भी उनका २५०० वा निर्वाण महोत्सव मनाया जा रहा है।

भगवान महावीर की जीवनी और उनके उपदेशो के सवध मे अनेको ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है पर उनके पूर्व भवो के सवध मे जितना विस्तृत विवेचन पूज्य विजय धर्मसूरिजी ने किया है उतना और किसी ने अद्यावधि नही किया यह अति हर्ष की बात है उन्होने गुजराती मे भगवान महावीर के पूर्ववर्ती २६ भवो के सवध में एक स्वतत्र ग्रन्थ ही लिख दिया जो सन् ६८ मे प्रकाशित हुआ था।

उसीका यह हिन्दी अनुवाद ही २५०० वा निर्वाण महोत्सव के प्रसग से प्रकाशित किया जा रहा है। हिन्दी अनुवाद यद्यपि जैसा होना चाहिये था, नही हो सका। फिर भी हिन्दी के पाठको के लिये यह प्रकाशन उपयोगी सिद्ध होगा।

वास्तव मे अनेक जन्मो की साधना के फल स्वरूप महापुरुष बनते हैं अत उनकी पूर्व जन्मो की कथा भी जाननी आवश्यक होती है जैन धर्म में सम्यकदर्शन के प्राप्ति को बहुत महत्व का बतलाया है अत तीर्थंकरो के पूर्व जन्मो का वर्णन वही से प्रारभ किया जाता है, जब कि उन्हे सर्व प्रथम सम्यकदर्शन प्राप्त हुआ था क्योकि अनादि काल से वैसे तो अनत भव जीव करता आ रहा है उसका वर्णन करना सभव ही नही है। सम्यकदर्शन प्राप्त होने पर वह जीव कुछ भवो के बाद देर सवेर भी मोक्ष अवश्य प्राप्त करेगा यह निश्चय हो जाता है। भगवान महावीर के पूर्व भवो का वर्णन भी ग्रन्थकारोने तो सभी से लिखा है वैसे बीच में छोटे छोटे भव और भी हुए पर उनको छोडकर श्वेताम्बर सप्रदाय में नयसार से लेकर महावीर तक के २७ भव माने गये है। दिगवर सप्रदाय मे ३४ जन्मो

की कथा प्रसिद्ध है। दिगवर ग्रन्थों के अनुसार वन सार की जगह पहला भव पुरूखा भीलका वतलाया गया है। उसके वाद के भव वहुत कुछ श्वेताम्वर ग्रन्थो में मिलते-झुलते हैं। वीच के कुछ भव अधिक वतलाकर दिगवर ग्रथ में सख्या वढा दी गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे श्वेताम्वर मान्यता के अनुसार वर्णन किया गया है।

जैन धर्म की मान्यता के अनुसार तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन जिस विशेष घर्माचरण द्वावारा होता है उसे श्वेताम्वर ग्रथो मे २० स्थानक और दिगवर ग्रथो में षोडश कारण कहा गया है। नाया-धम्म कहाओ नामक छठे अगसूत्र में भगवान मल्लिनाथ के जीवन प्रसग मे २० स्थानको का वर्णन मिलता है यथा —

इमेहि यणवीसा एहि य कारणेंहि आसिविय वहुलीक एहितित्य-यर नाम गोय काम

निव्वतेसु त जहा

अरिहतसिद्ध पवयण गुरू थेरे वहुस्सुए तवस्सीसु,
वच्छल्लया य तेसिं अभिक्ख नाण विए गोय . .. १

दसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइयारो,
खणलव तवचियाओ वेयावच्चे समाही य.........२

अपुव्व नाणगहणे सुममती पवयणे पहावणाया,
ओ ओहिं कारणेंहिं तित्ययत्त लहइ सो उ. .. .३

प्रस्तुत ग्रथके १७ वे प्रकरण मे इन २० पदो या स्थानको का विवेचन पूज्य आचार्य श्रीने किया है वह इस ग्रन्थ के पुष्ठ १८२ से २०६ मे छपा हैं।

दिगवर और श्वेताम्वर दोनो सम्प्रदाय के मान्य उमास्वाति के

तत्वार्थ सूत्र मे १६ कारणो का उल्लेख हुआ हैं।

दर्शन विशुद्धि विनय सम्पन्नता शील व्रतेष्वनतीचारो अभीक्ष्णज्ञानोपयोग सवेगो शक्तितस्त्याग तपसी साधु समाधिर्वयावृत्यकरणमर्हदाचार्य वहुश्रुत प्रवचन भक्ति रावश्यका परिहाणिमार्ग प्रभावना प्रवचन वत्सलत्वमिति तीर्थकर त्वंत्य ....

वास्तव मे ज्ञातासूत्र वतत्वार्थक में कोई तात्विक भेद नही हैं ज्ञातासूत्र का सिद्धवत्सलता, स्थविरवत्सलता, तपस्वीवत्सलता और ज्ञान ग्रहण ये चारपद अधिक है, उनमे से जीवका समावेश अर्हद् भक्ति आचार्य भक्ति और वहुश्रुत भक्ति मे तथा अपूर्व ज्ञान ग्रहण का अभिक्षाण ज्ञानोपयोग मे समावेश हो जाता हैं श्वेताम्बर समाज मे २० पदो की आराधना २० स्थानक तप के द्वारा की जाती है और दिगवर समाज मे प्रत्येक भावे मे सोडसद कारणो की आराधना १६ दिनो मे प्रतिदिन एक एक कारण को लेकर की जाती है उतराध्ययन सूत्र मे कहा गया है वेयावच्चेंण तित्थयर नाम गोत्र कम्म निवन्धई अर्यात् वैयावृत्य सेवा मे जीव तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन करता है।

वौद्ध ग्रन्थ मे भी वुद्धत्व प्राप्ति के कारणो की चर्चा पाइ जाती है दिक्षानिकाय आदि वौद्ध ग्रन्थो मे महापुरुषो के ३२ लक्षण वताये गये है वे ३२ लक्षण जिन पूर्वकृत कर्मो द्वारा प्राप्त होते है उनकी सख्या दिक्षानिकाय मे २० ही वताई गई हैं प्राचीन पाली साहित्य मे वारमिताओ का उल्लेख नही मिलता आगे चलकर १० पर्व मिताओ का विवेचन पाया जाता हैं वौद्ध साहित्य के विशिष्ठ जैन विद्वान डो भागचद जैन ने तुलना करते हुए लिखा है कि जैन धर्म और वौद्धर्म मे वर्णित तीर्यकरत्व एव वुद्धत्व प्राप्ति के निमितो को तुलनात्मक द्रष्टि से देखने पर स्पष्ट आभास होता है कि वे एक

दूसरे की परम्परा से भलीभांति परिचित रहे है। दीर्घनिकाय मे उल्लिखित निमित परस्पर मिश्रत्व है जब कि अभिधर्म विनश्चय सूत्र मे वे अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट है दोनो की परम्पराओ को जैन परम्परा से मिलाने पर जैन परम्परा प्राचीनतम दिखाई देती है बौद्ध परम्परा मे पारमिताओ का आलेखन उत्तर कालिन है।

श्वेताम्बर और दिगबर दोनो सप्रदाय के ग्रन्थो मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि सब जीवो की कल्याण कामना अर्थात् उत्कृष्ट भावना से तीर्थंकर जैसे महान पदवी की प्राप्ति होती है।

श्रीमद् देवचद्रजीने स्नात्र पूजा मे बहुत सरल शब्दो मे लिखा है-

सवि जीव करू शासन रसी—ऐसी भाव दया मन उल्लसी।
लहि परिणाम अेहवुं भलु—निपजायो जिनपद निरमलुं ॥

वास्तव मे ४ घनघाती कर्मो के क्षय होने पर केवलज्ञान केवल-दर्शन प्राप्त होता है, इसके बाद तीर्थंकर जगह जगह घूमकर उपदेश देते है वह पूर्व जन्म मे जो तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म का बध हुआ था उसी को भोगने के लिये होता है बध के समय जो सब जीवो के कल्याण की उत्कृष्ट भावना थी, उसी के फल स्वरुप वे सर्वोदय तीर्थ का प्रवर्तन करते है। सब जीवो को कल्याण मार्ग दिखाते है और उसमे प्रवृत्त करते है।

भगवान महावीर के जीवन मे बहुत से कष्ट आये, वे उनके पूर्व भवो के फल के रुप मे समजने चाहिये इसी द्रष्टि से उनके पूर्व जन्मो को ठीक से जानना आवश्यक है। उनके जीवने पूर्व जन्मो मे अनेक उतार चढाव देखे, शुभा शुभ कर्मो का बन्ध किया इससे दो बार तो उन्हे नरक मे भी जाना पडा। अनेक बार तापसी

बनेना पडा। और उसमे जो पून्य आचरण किया उसके स्वरुप देवगति मे गये उनके पूर्व भवमे नयसार के जीव ने मुनियो के सत्संग व उपदेश से सम्यकदर्शन प्राप्त किया। फिर मरिचि के भव मे शुद्ध सायम पालन नही कर सकने के कारण त्रिदडी तापस बने उसी के सास्कार से आगे कई जन्मो तक तापसी दीक्षा लेते रहे। कल्पसूत्र आदि मे कहा गया है कि भगवान ऋषभदेवने भरत के पूछने पर यह कहा था कि मरिचि का जीव आगे जाकर २४ वे तीर्थंकर होनेवाला है। वह चक्रवर्ती और वासुदेव भी होगा। भरत चक्रवर्तीने ऋषभदेव के कही हुई बात मरिचि को सुनाई और भावि तीर्थंकर के रुप मे आदर्श सन्मान किया। कहा गया है कि उसे सुनकर मरिचि को अपने कुल का बडा अभिमान हुआ। इसीसे उसे भिक्षुक कुला देवानदा ब्राह्मणी के कुक्षी मे उत्पन्न होना पडा। मरिचिने कपिल को मेरे पास ही धर्म है कहते हुए उत्सूत्र—प्ररुपणा की उसके फल स्वरुप अनेक भव करने पडे। मिथ्यात्व दशा प्राप्त हो गई अर्थात् कर्मो का फल तो तीर्थंकर के जीव को भी भोगना ही पडता है पूर्व जन्मो मे भगवान महावीर के जीवने जो शुभाशुभ कार्य किये। उनकी विस्तृत चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थमे आचार्य श्री विजय-धर्म सूरिजी ने की है। जिससे पाठ को बहुत बडी शिक्षा मिलती है अतअेव यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी है। परिशिष्ट मे भगवान महावीर का भी साक्षिप्त वृतात और उनके उपदेश देकर ग्रन्थ को पूर्ण किया गया है।

पूज्य आचार्य श्री जैनधर्म दर्शन एव कर्म सीद्धान्त के उल्लेख-नीय विध्वान है तत्वज्ञान के श्रेष्ठ प्रवचनकार भी है। उन्होने बडी सुन्दर और मधुर शैली मे भगवान महावीर के पूर्व जन्मो का विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ मे किया है इससे पाठक बोध ग्रहण करते हुए बुरे कार्यो से बचे और अच्छे कार्यो से प्रवृत्त हो यही प्रस्तुत

ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य भगवान महावीर की तरह हम भी महावीर बनें इसी शुभ कामना के साथ अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं।

मार्गशीर्ष शुक्ल १४ सं २०३१—

अगरचंद नाहटा
बीकानेर (राज)

पुरोवचन

आमके वृक्ष पर जब आम पक कर तैयार हो जाता है तो इस के रुप—गुण से आकर्षित होकर आने वाले प्रशसको की प्रशसा में उस पके आम के वर्तमान लावण्य तथा सुगन्ध को ही प्रशसा होती है। परन्तु इस आम्रफल वृक्ष पर पकी है इस वृक्ष को उस फल के तैयार होने से पूर्व कैसी कैसी व्यथाए-विडबनाए सहन करनी पडी इसका जरा भी विचार इन प्रशसको के मस्तिष्क मे नही रहता । आम्रवृक्ष उस फल के विषय मे यह अपेक्षा तो किसी हद तक क्षम्य है क्योकि मानव को तो उसके इस वर्तमान रुप-लावण्य- स्वाद से ही मतलब है, सम्बन्ध है। परन्तु जिन्हे हम उस अवसर्पिणी कालका चरम तीर्थंकर रूप मानते है तथा जिस महान विभूतिने जीवमात्र को अभयदान दीया, नेत्र दिये, मार्ग दिखाया, शरण दी, बोध दिया तथा धर्म सिखाया, अैसे धर्मदाता धर्मदेशक—धर्मनायक- धर्मसारथि तथा धर्मक्षेत्र के चक्रवर्ती समान श्रमण भगवान महावीर का केवल जीवन जानकर ही हमें भला तृप्ति कैसे हो सकती है। भगवान महावीरने यह सब आखिर कैसे प्राप्त किया ? अथवा इस जीवन को प्राप्त करने से पूर्व- भवो मे उन्होने कैसी कैसी साधना की होगी ? कैसे कैसे दारुण कष्टो और असह्य वेदनाओ मे से अपना जीवन निकाला होगा ? यह सब जानने की इच्छा तो जिज्ञासुओ के मस्तिष्क मे अवश्य ही उठती होगी ।

परम - पूजनीय आचार्य श्री विजय धर्मसूरिजी महाराजने अैसे जिज्ञासुओ की इच्छा प्राप्ति के हेतु श्रमण भगवान महावीर के उपर यह अमूल्य ग्रन्थ तैयार किया है। उनके तत्वज्ञान से भरपूर व्याख्यान

सदा से श्रोतागण के लिये अेक अद्‌भुत आकर्षण रुप रहे है उसी प्रकार इस ग्रन्थ में उनकी लेखन शैली में जो सरलता-सचोटता-स्पष्टता तथा वस्तु निरुपण करने की अनोखी जो पद्धति है उससे कोई भी पाठक किसी भी सम्प्रदाय का क्यो न हो, उसे आनन्द प्राप्त होगा ही। इस मे कोई शंका नही है। भगवान महावीर के भूतकालिन छव्वीस भवो का सिहावलोकन करते हुअे पूजनीय आचार्यश्रीने-इस जीवन मे कहा कहा कैसे कैसे स्खलन आया, तथा कहा कहा सद्‌गुणो की पराकाष्टा अर्थात् वाहुल्य सपादित किया है, इन सभी प्रसगो का मनो वेधक तथा उपदेश रूप वर्णन कुशलता पूर्वक किया है। इस प्रकार अेक ओर तो यह ग्र थ अेक महापुरुष, सावक अवस्था मे अपूर्णताओ पर किस प्रकार विजय प्राप्त करता है इस का वर्णन देता है- साथ ही दूसरी ओर उस से सलग्न इतिहास का भी दर्शन करवाता है।

भगवान महावीर द्वारा अन्तिम तीर्थंकर के भव मे अपूर्व सावना तथा इसी वीच उन पर घटित अनेक उपसर्गो का वर्णन पढते हुअे अपने रोम रोम खडे हो जाते है। अपने मे अेक प्रकार की निराशा भावना सी पैदा हो जाती है। "अहो! अेसा महान तप अपने से तो इस काल मे कैसे होगा- अेसे अेसे उपसर्ग हम कैसे सहन कर सकते है?

परन्तु इस ग्रन्थ द्वारा भगवान महावीर के पूर्व जन्मो के इतिहास का ज्ञान करवाने से-अपनी यह निराशाभरी भावना समाप्त हो जाती है। आचार्य महाराजने इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही इस विपय मे स्पष्ट रुप से वता दिया है- " भगवाने महावीर की आत्मा अनादिकाल की अपेक्षा से हम-आप की तरह ही कर्म के आवरण से ढकी-अशुद्ध-ससारवर्ती चौरासी लाख जीवयोनियो अथवा चार गतियो मे भ्रमण करने वाली जीवात्मा थी।

इस ग्रन्थ का दूसरा विशेष महत्व यह है कि भगवान महावीर के भूतकालीन जुदा जुदा भवो मे हुई उत्क्रान्ति-अपक्रान्ति के प्रसगो के साथ साथ इन प्रसगो के अनुरूप धर्मशास्त्रो का तत्वज्ञान भी अच्छी प्रकार से समझाया गया है। इस प्रकार जैनधर्म विषयक अनेक विषयो का निरूपण ऐसी तलस्पर्शी तथा रोचक भाषा मे हुआ है कि हर प्रसग सरलता से समझ मे आ जाता है।

"आत्मवात्मनो वन्धुरात्मैव रिपुरात्मन" अर्थात आत्मा ही अपना वन्धु और आत्मा ही अपना शत्रु है।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे भगवान महावीर के तीर्थंकर होने से पूर्व के भूतकालीन छव्वीस भवो का वर्णन दिया गया है। समग्र रूप से इन सभी भवोका वर्णन पढते हुए हृदय पर एक अविच्छिन्न छाप पडती है कि जो अनन्त आत्माए वर्तमान काल मे सिद्धावस्था मे विद्यमान है उन सभी ने भी मुक्तावस्था प्राप्त करने से पहले ससार परिभ्रमण तथा जन्म मरण के अनेक चक्रो मे से जीवन भ्रमण किया होगा। जो विषय-कषाय मानव जाति को वर्तमान काल में पीडा मे जकडे हुए है वैसे ही विषय कषायो के महाजाल मे से इन मुक्त आत्माओ को गुजरना पडा होगा। यह सत्य समग्र मानव जाति को एक आश्वासन रूप है कि कैसी भी पापी-पापिष्ट आत्मा क्यो न हो यदि भव्य आत्मा है तो जैन दर्शन उसे मुक्ति का अधिकार मानता है। ब्राह्मण-स्त्री वालक और गाय की हत्या करने वाला दृढप्रहारी जैसा महापापी मानव भी उसी भव मे मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यह सत्य क्षुद्र तथा पापी से पापिष्ट मानवी हृदय मे एक नवीन चेतना का सचार करता है।

जिस कारण से—"मैं अनन्त एश्वर्यका स्वामी होते हुए भी-कर्मो की पराधीनता के कारण पापी से महापापी हो गया हू मेरी देह तथा आत्मा दोनो भिन्न भिन्न है मैं हू तो चैतन्य रूप। ये शरीरादि

पदार्थ तो अनित्य तथा नाशवंत है" जब ऐसे विचार पैदा हो, तब महर्षि हरिभद्रसूरिजी ने योगबिन्दु में कहा है कि एक ओर आत्मा के ऊपर से मोह का प्रभाव घटना शुरु होता है दूसरी ओर से मोह पर आत्मा का दबाव शुरु होता है। ऐसी परिस्थिति आते ही आध्यात्मिक विकास प्रारम्भ होता है।

भगवान महावीर के भूतकालिन छब्बीस भवो मे से मरिचि राजकुमार का तीसरा भव, विश्वभूति राजकुमार का सोलहवा भव तथा त्रिपृष्ठ वासुदेव का अठारहवा भव का इतिहास खास समझने योग्य है। आचार्य भगवानने इन तीनो भवो पर विवेचन तथा समालोचना विस्तारपूर्वक की है। आज के युग मे मानव जाति में व्याप्त आधि-व्याधि उपाधि रूप रोगो का निदान तथा निवारण इन तीन भवो से मानव जाति को प्राप्त हो सकता है। मेरी राय मे पाठको को इन तीनो भवो का वर्णन ध्यानपूर्वक पठन व मनन करना चाहिये।

तीसरे भव मे मरिचि को जब ज्ञात हुआ कि उसकी यह आत्मा इस भरत क्षेत्र मे चोवीसी में अन्तिम चोवीसवा तीर्थंकर होनेवाली है तथा वही त्रिपृष्ठ नाम का प्रथम वासुदेव और प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा तो उसके अपने हृदय मे एक प्रकार का अहभाव पैदा हुआ। इस सत्य को जानने से पूर्व भी-दीक्षा लेने के बाद परिषह सहने मे अशक्य होने के कारण उसने सयम पालन के नियमो को स्व-इच्छानुसार सुलभ कर लिया था, परन्तु उसमे श्रद्धा-भक्ति तो अखड थी ही। कोई भी व्यक्ति आचार से पतित होते हुए भी श्रद्धा के अखड होने मे—एक अर्थ मे क्षम्य माना जाता है। परन्तु श्रद्धा से भी पतित हो जाना जीव के लिये अत्यन्त खतरनाक होता है। ऐसा विवेक भ्रष्ट मानवी तो फिर पतन पर ही गिरता रहता है। मरिचि मे ज्यो ही अहभाव जगा वह एक पग नीचे गिरा, श्रद्धा दीप को बुझाने मे सहायक शिष्य कपिल से कहा— "साधु के मार्ग मे भी धर्म है और मेरे मार्ग

मे भी धर्म है।" उस प्रकार सूत्र विरुद्ध परूपणा करने से भगवान की आत्माने दीर्घ संसार भ्रमण उपार्जन किया। इस के वाद के वारह भवे। तक उस का कही ठिकाना नही रहा। आचार भ्रष्टता मे-उत्सूत्र परूपणा मे अधिक पाप होता हैं। भगवान की आत्माने सोलहवे भव मे भरतक्षेत्र के राजगृह नगर मे विश्वनन्दी राजा के भाई विशाखभूति के पुत्र विश्वभूति रूप मे जन्म लिया। संसार के मायाजाल-कपट द्वेष छलप्रपंच के असह्य आघात होने पर विश्वभूतिने चारित्रधर्म अंगीकार किया और उसका सुन्दरतम पालन भी किया साथ मे एक एक माह का उपवास भी किया। इस प्रकार इस भव मे उसने महानतम तप साधना की। परन्तु निमित मिलते ही-विवेक भूलकर-चिन्तामणिरत्न के समान तप साधना फल को कानी कौडी के वदले वेच दिया।

तप की महत्ता तथा योग्यता के विषय मे जैन दर्शन मे वहुत सी वाते कही गई है। पूर्वकर्मो को जलाने मे तप प्रज्वलित अग्नि के समान है। तप का सच्चा हेतु जीवन मे झुककर अन्तर्मल को फेकने के समान है। क्लेशो को अशक्त वनाने हेतु तथा समाधि के संस्कारो की पुष्टि करने के लिये तप का खास प्रयोजन है, ऐसा पतंजली ने योग-शास्त्र मे भी कहा है। महर्षि पतंजलीने इस प्रकार से तपको मात्र क्रियायोग ही कहा है, इसी कारण से क्रियायोग से अलग राजयोग को भी स्वीकार है उन्होने जैनदर्शन मे तप की एक खास विशेषता यह है कि अपने तप की व्यवस्था मे क्रियायोग तथा ज्ञानयोग दोनोका समावेश हो जाता है। जैनदर्शन मे इसी लिये तप के वाह्य तथा अभ्यन्तर ऐसे दो विभाग माने जाते है। क्रिया के साथ साथ जीवन-शुद्धि के तमाम आवश्यक नियमो का इसमे समावेश हो जाता है।

परन्तु तप के साथ साथ जैनदर्शन मे संयम-त्याग विवेक के लिये भी जोर दिया गया है। तप करने वाले साधक की संकल्प शक्ति धीरे धीरे भारी मात्रा मे वृद्धिको प्राप्त होती है परन्तु तप के साथ

साथ संयम-त्याग तथा विवेक का यदि अभाव हो तो वह तप आत्मा की अर्ध्वगति मे ले जानेके स्थान पर अधोमुख ले जाने मे निमित रूप बन जाता है। उदाहरण के तौर पर हम यहा गोशालक का द्रष्टान्त लेते है। एक समय तेजोलेश्या प्राप्त करने वाला भगवान महावीर का शिष्य गोशालक तप साधना द्वारा कितनी ही सिद्धिया भी प्राप्त करता है, परन्तु यही सिद्धिया उस के लिये अनेक-भव-भव भ्रमण का कारण बनी। विश्वभूतिने तप द्वारा सिद्धिया तो प्राप्त की परन्तु अपने संसारी क्षेत्र के भाई विशाखानन्दी के असभ्य व्यवहार के कारण उसने नियाणा बांधा—"संयम ग्रहण के उपरान्त आज तक तीव्र तप के फल स्वरूप इस के उपरान्त के भव मे मैं महान बलशाली बनूं मुझे अटूट शारीरिक बल प्राप्त हो जिससे उपहास करने वाले विशाखानन्दी से बदला ले शकू।"

नियाणा (संकल्प बांधना) एक प्रकार का महान पाप है। फिर इतना ही नही, नियाणा की जीवन मे वृत्ति पैदा होना ही एक प्रकार का महान भाव पाप है।

भगवान की आत्मा सत्रहवे भवमे देवलोक मे रह कर अठारहवे भवमे त्रिपृष्ठ वासुदेव रूप मे जन्म प्राप्ति करती है। वह अलौकिक शक्ति, विशाल सत्ता, विपुल वैभव तथा भौतिक सुखो की पराकाष्ठा प्राप्त होने पर चौरासी लाख वर्षों तक भोगोपभोग सुखो मे रमणता के कारण स्वरूप जो उसने कर्म बंध किये उनसे इस जीव को उग्र दर्द भोगना पडा। त्रिपृष्ठ वासुदेव के काल पश्चात भगवान की आत्मा को उन्नीसवे भव मे सातवे नरक दुःख को भोगना पडा। वहा से आयुष्य पूर्णकर वीसवे भवमे तिर्यंच योनि मे सिंह रूप जन्म पाया, वहा से आयु पूर्ण कर इक्कीसवे भवमे चोथे नरक मे जन्म हुआ। इस प्रकार त्रिपृष्ठ भवमे जो कर्म बंध हुआ था उस का परिणाम कितने ही भव तक असंख्य वर्षों तक उस आत्मा को भोगना पडा। अब उसके पश्चात इस आत्मा का उत्तरोत्तर विकास शुरु होता है और सताईसवे भवमे यह आत्मा तीर्थंकर पद प्राप्त करती है।

किसी एक महान विचारकने स्थान पर कहा है कि "Your Joy is your sorrow unmasked" भौतिक सुखो के अन्तराल मे शोक रूपी अग्नि की प्रचड ज्वालाए (जो अदश्य रहती हे) सदा वर्तमान रहती हैं ।

चौरासी लाख वर्षों तक अत्यन्त वैभवपूर्ण राग-रग-ऐश्वर्य की आसक्ति भरे समूचे जीवन के बाद उस जीव को असाख्य वर्षो तक कैसी कष्टमय जीवन की छाया मे गुजरना पडता है भारी परिणाम भुगतने पडते हैं । आत्मा के उत्थान द्वारा उत्पन्न आनन्द-सुख-शान्ति-समाधि यही वास्तविक सत्य है, इस के इलावा अन्य पदार्थों के सयोग से जीवन मे जो सुख का अनुभव होता हैं वह मात्र भ्रम तथा मिथ्या कल्पना ही है। इतना ही नही इसके परिणाम स्वरुप दीर्वकाल तक अत्यन्त दुख और क्लेश का निमित्त रूप भी होते है । मानव समाज को सदा इन भौतिक सुखो से भय रखकर दूर रहना चाहिये क्योकि मानव स्वभाव में जो निर्वल तथा अस्थिर अश है उन्हे ये भौतिक सुख ही उत्तेजना कारक होते है और जो स्वभाव मे सवल-अचल अ श है वे आघात और वेदना द्वारा ही प्रकाश को प्राप्त करते है ।

सासारिक प्रवृत्तियो मे लिपटे जीव को निवृति मार्ग वताने वाले, ससारको सात्वना देता, निराश जीवो को आशा बधाता, पापियो के पाप का छेदन करता, तथा आध्यात्मिक चितन के पुण्यमार्ग दर्शन यह महान ग्रन्थ इस जडवाद के युग मे एक आशीर्वाद रूप होगा । इस मे श का नही ।

ऐसा सर्वोतम ग्रन्थ तैयार करने के लिये, मैं पूज्य आचार्य श्री विजय धर्मसूरिजी महाराज को कोटि कोटि वन्दन करके धन्यवाद तथा आभार प्रदर्शित करता हू । इस के साथ २ पाठक गण भी भगवान

महावीर के पिछले भवो के जीवन वृतान्त का प्रसगवश चिन्तन-मनन करे और अपने जीवन पथ को निर्मल तथा उज्वल बनाने मे कटिवद्ध हो—उस के लिये पुरुषार्थ करे ऐसी कामना करता हू ।

११, पारसी बाजार स्ट्रीट,
फोर्ट - बम्बई

मनसुखलाल ताराचन्द महेता

बम्बई वालकेश्वर बाबु अमीचन्दजी पनालाल जैन दहेरासर के मूल नायक भगवान श्री आदीश्वरजी की मूर्ति की आश्चर्यजनक घटना।

शेठानी कुवरबाई के हृदय में जिनमंदिर बंधवाने की भावना उत्पन्न हुई

विस १९५९ के समय की यह घटना है। उन दिनो वालकेश्वर मे जैनियो के बहुत कम घर थे और जैनेतर लोगो की वस्ती भी वहा अधिक नही थी। उस समय वालकेश्वर मे बाबू सेठ अमीचदजी पनालालजी अपने परिवार के साथ रहते थे। ये बबई मे वालकेश्वर में आकर बसे थे और आपका व्यवसाय था हीरे जवाहरात का व्यापार। सेठ साहब की धर्मप्रिय धर्मपत्नी कुवरबाई धर्म मे अतीव श्रद्धालु थी। उन्हे एक बात का हमेशा दुख लगा रहता कि आत्मकल्याण कार्य मे परम आलबन रूप जिनेश्वर देव की मूर्ति के दर्शन का मुझे और मेरे साथ दूसरे सभी लोगो को लाभ नही मिल पा रहा है। यह एक अत्यत दुर्भाग्य की बात ही कही जाएगी। ऐसा विचार करते करते एक दिन उन्होने मन मे विचार किया कि यहाँ वालकेश्वर मे जिन मंदिर बधवाया जाए तो कितना अच्छा हो। उन्होने अपने इस शुभ विचारको अपने पति श्री बाबू अमीचन्दजी के सामने प्रस्तुत किया। सेठ श्री अमीचन्दजी भी अतीव श्रद्धावान सुश्रावक थे। उन्होने अपनी पत्नी की शुभभावना का स्वागत किया और कहा कि भगवान साशनदेव हमारी भावनाओ को सफल करे।

शेठ बाबु अमीचंदजी को स्वप्न आया :

बाबू सेठ अमीचदजी को पूज्य मुनिराज श्री मोहनलालजी महाराज पर अतीव आस्था थी। आप जवेरी बाजार मे जाने से पहले

बाबु शेठश्री अमीचंदजी पनालालजी

जन्म १७-५-१८५० स्वर्गवास ८-३-१९२८

जिसने संवत १९६० में मुंबई वालकेश्वर पर तीर्थधाम-रूप भव्य जिनालय बनवा कर नीचेके भागमें प्रथम तीर्थाधिपति आदिश्वर प्रभुकी मुद्राको मूल नायकजी के रूपमें और प्रथम मजले पर श्री पार्श्वनाथ प्रभु आदीको विराजमान किया।

आज हजारों जैन-जैनेतर प्रतिदिन दर्शन-पूजनका लाभ ले रहें हैं।

बाबु शेठश्री अमीचंदजी पनालालजीके धर्मपत्नी
धर्मश्रद्धालु शेठाणी श्री कुंवरबाई

जन्म : संवत १९२२ श्रावण सुद ५
स्वर्गवास संवत १९६७ श्रावण वद १३
जिनकी प्रेरणासे वालकेश्वरका जिनमंदिर बना ।

भुलेश्वर लालवाग मे विराजमान गुरुदेव श्री मोहनलालजी महाराज को हमेशा दर्शन वंदन किया करते थे ।

अपनी धर्मपत्नी की भावनाको मूर्तरुप देने के लीए वालकेश्वर मे अभी जहा स्थान है, वही जिन मदिर बनवाने के लिए सेठ श्री अमीचदजी तथा अन्य व्यक्तियोन निश्चय किया । यथा समय उन्होने मेघनाद मडल नाम से सुप्रसिद्ध एक मजिलका शिखरवदी भव्य जिन मदिर बँधवाया पर अब प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि मूल नायक के रुप मैं प्राचीन प्रतिमा कहां से लाई जाए ? सेठ-सेठानी इसी चिंता मे थे कि एक दिन मगलरात्रि मे सेठ बाबू अमीचदजी को शासनदेवने स्वप्न दिया । स्वप्न मे अभी जो मदिर मे मूलनायक श्री आदिश्वर भगवान विराजमान है, शासनदेवने उन्ही के सेठजी को दर्शन कराये और कहा कि ये मूलनायक आदीश्वर भगवान अभी खभात के एक जिन मदिर के तल घर मे विराजते है । आप खभात जाकर उन्ही भगवान को यहा लाकर पधराये ।

स्वप्नकी सफलता और प्रतिष्ठा :

ऐसे मगल स्वप्न के दर्शन से सेठजी अत्यत आनदित हुए । सेठानी जी भी परम आनदित हुएं । सेठ साहव ने पूज्य मोहनलालजी महाराज से स्वप्न की वात की और प्रतिष्ठा का मुहर्त पूछा । श्री गुरुदेवने कहाकि ' सव कुछ अच्छा हो जाएगा । गुरुदेव का आशीर्वाद लेकर सेठजी वाजारमें गए । इतने में एका एक गुरुदेवने सेठजी को अपने पास वुलाया । सेठजी गुरदेव के पास आए । गुरुदेवने सेठजी को आज्ञा दी कि आप आज ही खमात जाए और वहा के सघपति जो मूर्ति दे वे उसे लेकर ववई आ जाएं । सेठजी को गुरुदेव पर अत्यत श्रद्धा थी इस लिए वे तत्काल खमात के लिए चल पडे । श्री सेठ साहव खभात मे सघपति नगरसेठ श्री पोपटभाई से मिले । उनके साथ दो-चार

दहेरासरमे दर्शन करते करते वे एक दहेरासरके तल घरमे गए। वहाँ सेठ साहबने वही मूर्ति देखी जिनके उन्होने स्वप्न में दर्शन किये थे। शेठ अत्यंत प्रसन्न हुए। नगरसेठ के सामने उन्होने मूर्तिकी माग की। उस प्रतिमा को देनेका नगर सेठजी का विचार नही था। किंतु श्री अमीचदजीने उन्हें काफी समझाया। अंतमे वे प्रतिमा देने को सम्मत हुए। सेठजी तुरत प्रतिमा लेकर बबई की तरफ रवाना हुए।

इस प्रकार साशन देवने जो स्वप्न दिया वह सफल हूआ। वि. स. १९६० के मृगशीर्ष शुक्ल ६ के दिन पूज्य गुरुदेव मोहनलालजी महाराज श्री की पुण्य निश्रामे बाबू अमीचदजी तथा उनकी धर्मपत्नी सेठानी कुवरबाई ने तथा उन्के कुटुबियोने मिलकर अतीव उल्लासके साथ भव्य महोत्सव करके प्रतिष्ठा की।

इसके पश्चात पहली मजिल पर मूलनायक श्री पार्श्वनायक भगवान की प्रतिष्ठा बाबू अमीचदजी के बाल सुपुत्र श्री दोलतचदजी तथा श्री सीतापचदजीने अपने कुटुब के साथ रह कर की।

इस प्रकार यह इस देरासर का लघु इतिहास है।

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

"णमोत्थुण समणस्स भगवओ महावीरस्स"

१

प्रथम नयसार का भव-भगवान महावीर के महावीर होने के पुण्य समय का प्रारम्भ :

जीवात्मा ही परमात्मा

सर्वनयशुद्ध और सनातन जैन शासन की धारणाओं तथा मत के अनुसार परमात्म दशा को प्राप्त कोई भी आत्मा अनादि होने से परमात्मा नहीं होती, परन्तु संसारी जीवात्मा ही सम्यग् ज्ञान चारित्र के उद्गम् द्वारा आराधना करने से हीं परमात्म् पद को प्राप्त करती है। सर्वज्ञ होने से पूर्व कौन सी आत्मा परमात्मा हुई ? उस प्रश्न के उत्तर में

यह कहना उचित होगा कि "प्रवाह" की अपेक्षा से परमात्मा अनादि है" जब यह धारणा सत्य है उसी प्रकार व्यक्ति की अपेक्षा से जीवात्मा (ससारी आत्मा) ही परमात्मा बनती है—यह भी सत्य मानना होगा ।

परमात्मा तो अनादि से परमात्मा है और जीवात्मा सदा से जीवात्मा ही रहती है ऐसा किसी दर्शनकार का मतव्य-किसी अश तक सत्य है, यह एक विचारणीय प्रश्न है ।

अभव्य - जातिभव्य और भव्य

श्रमण भगवान महावीर, महावीर के भवमें-परमात्मा तीर्थंकर-देवाधिदेव-या सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरजन, निराकार हुए, परन्तु यही भगवान महावीर की आत्मा अनादि काल की अपेक्षा से सर्व-साधारण रूप हो कर्म के आवरणो से लिप्त-अशुद्ध ससारमे चौरासी लाख जीव योनियो में अथवा चार गतियों में विचरण करती एक जीवात्मा ही तो थी ? भवसागर मे भटकती असख्य जीवात्माओ की तरह कुछ आत्माए ऐसी होती है, जिन आत्माओ को इच्छित-उच्च प्रकार की बाह्य साधन सामग्री रूप प्राप्त होने पर भी वे परमात्म दशाको अथवा अन्तरग साधन- सम्यग् ज्ञानादि की प्राप्ति के अयोग्य ही रहती है, ऐसी आत्माओको "अभव्य" आत्मा कहा जाता है । जैन शासन में उन्हें इसी नाम से पुकारा जाता है ।

कुछ एक जीवात्माए ऐसी होती है जिन में परमात्म दशा को और उसके अतरग साधन-सम्यग् ज्ञानादि की क्षमता होती तो है, परन्तु पचेन्द्रिय पन-मनुष्यत्व-विचार शक्ति और उनके सहयोगी दूसरे बाह्य साधनो की प्राप्ति न होने के कारण-अक्षमता रह जाती है । इससे परमात्म पद की योग्यता होते हुए भी-अनन्त काल तक ये जीवात्माए परमात्म पद से वचित रह जाती है इस प्रकार की आत्माओ को "जातिभव्य" कहा जाता है ।

जिन जीवात्माओ मे परमात्म दशा तथा इसके साथ साथ अतरग साधनो (सम्यग्ज्ञान-दर्शन्-चारित्र) की प्राप्ति की क्षमता-रहती है, योग्य होती है परन्तु साथ ही साथ, वादरपन-त्रसपन-पचेन्द्रिय पन-विचारशक्ति-मनुष्यत्व आदि वाह्य साधन जो विकासक्रम के योग्य होते है उन सवकी उपस्थितिमें वे "भव्यात्मा" कहलाती है। ऐसी आत्माए- "भॅव्यात्मा" कहलाइ जाती है ।

भव्यात्मा ही परमात्मा होती है

वीज का उदाहरण लीजिये। यदि एक वीज में उद्गम् शक्तिका अभाव है तो यदि उसे काली मिट्टी, जल, खाद आदि वाह्य साधन प्राप्त हो भी जाए- फिर भी उसमें- अकुर विस्फुरित होने का प्रश्न नही उठता क्योकी वीज में उद्जनन की शक्ति है ही नही । इसी प्रकार वीज तो शक्तिशाली उद्जनन शक्ति से भरपूर हो परन्तु उसे वाह्य साधन रूप मिट्टी, जल आदि यदि प्राप्त न हो तो भी उसका उपयोग क्या होगा ? परन्तु यदि वीज में शक्ति है, और वाह्य साधन भी उपलव्व है, तो उस की सयोग-प्राप्ति द्वारा वीज में रहा हुआ फल रुपी परिणाम प्रत्यक्ष द्रष्टिगोचर हो जाता है यह तो प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त सत्य है।

जीवात्मा के लिये भी यही सत्य गठित होता है। अभव्य आत्मा में उद्गम शक्ति का अभाव होता है जिस के कारण ये अभव्य आत्माए मनुष्यत्व, विचार शक्ति, देव, गुरु की सामग्री आदि के रहते हुए भी वाह्य साधनो का सुभीता प्राप्त कर भी परमात्म दशाको प्राप्त नही कर पाती। जातिभव्य आत्माओ में उद्भव शक्ति तो होती है परन्तु मनुप्यत्व वगैरह शक्ति विकास के साधन न मिलने के कारण वे भी असवना हो जाती है। जो भव्यात्मा होती है – उन्हे उद्गम शक्ति तो होती ही है, साथ साथ वाह्य सावनो की भी प्राप्ति सुलभ होती है, इस प्रकार ये भव्यात्माए परमात्म दशा को प्राप्त कर लेती है ।

भगवान महावीर की आत्मा पूर्वकाल में संसारी ही थी

एक विचारणीय प्रश्न है जो एक विशेपता रूपक है कि इन तीनो अवस्थाओ में जीव, अजीव नही होता, और अजीव, जीव नही होता। इसी प्रकार जीवो में जो अभव्य जीव होते है वे भव्य नही होते, वैसे ही अभव्य-भव्य नही होते। जातिभव्य के लिये भी यही स्थिती होती है, अभव्यपन, जातिभव्यपन अथवा भव्यपन ये तीनो अनादि पारिणामिक भाव कहलाते है । इन में परिवर्तन नही होता ।

उन सबके प्रसंग रूप यह तो मानना ही होगा-और इस निर्णय पर पहुचना ही होगा, चाहे वे भगवान महावीर ही हो-परमात्म पद को प्राप्त हुई आत्मा पूर्व भवों मे तो जीवात्मा ही थी, और अनादिकाल से उस ससारचक्र मे-भवसागर मे भटक रही थी। और उस परम-आत्मा ने जीवात्मा के रूपमें सासारिक व्यवस्था के अन्तर्गत् अनन्त जन्म मरण की परपरा के अन्दर अनुभव प्राप्त कर ही आत्मपद - परमात्म पद की साधना की। इस प्रकार सामारिक कष्ट जन्म, मरण, काम, क्रोध आदि वासनाओं में विचरण तो सभी आत्माओ को करना ही पडा है।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति द्वारा ही भवो का ज्ञान होता है

भगवान महावीर के लिये भी हमें इसी व्यवस्थाका अध्ययन करना है। और उसे जानना है। ऐसी परिस्थितियो मे भगवान महावीर की आत्मा का विकास प्रारम्भ कब-कैसे-किस भवमें हुआ ? कौन कौन से सजोग प्राप्त हुए ? विकास का प्रारम्भ होने के बाद उस में लगातार आध्यात्मिक विकास चालू रहा या उस मे "उत्क्रान्ति" या "अपक्रान्ति" के प्रसग भी आए या नही ? इन सब का हमें अध्ययन करना होगा, और उनके छब्बीस भवो को देखना होगा। मूलत उन के प्रथम भव का सिहावलोकन आवश्यक हो जाता है।

जिन शासन की मान्यतानुसार वर्तमान अवसर्पिणी काल मे भरत क्षेत्र मे हुए चौवीस तीर्थंकरो के उदाहरण स्वरूप प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के तेरह भव, तेइसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ महाप्रभु के दस भव-बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के नव भव की कथा जिस प्रकार सर्व विदित है, उसी प्रकार श्रमण भगवान महावीर के सत्ताइस भव का भी उल्लेख प्रचलित है। किसी भी आत्माके असख्य भवो मे विचरने की धारणा के सिद्धान्त के अनुसार तेरह-दश-नव अथवा सत्ताइस भव की जो समीक्षा है उस का मुख्य कारण उस का इन दशाओ मे आध्यात्मिक विकास का कारण रूप है। जिन जिन अवस्थाओ मे आत्मा को अपने आत्म स्वरुप का ज्ञान प्राप्त हुआ, जैसे- "मै अनन्त ऐश्वर्य का स्वामी होकर भी कर्म पराधीन होकर महापापी जीव वन गया हूँ, मै अलग हूँ- यह शरीर अलग है, आत्मा भिन्न है, शरीर आदि का सयोग व पदार्थो का स्वरूप भिन्न है, मै चैतन्य स्वरूप हूँ' ऐसे विचार जब जब मन मे प्रकाशित हुए और जिस क्षण से उस जीवात्मा को अपने वास्तविक जीवन का आभास प्राप्त हुआ, और उस की रुचि में परिवर्तन आने लगता है, आतरिक सुखो और साधनोके प्रति असार्य आने लगती है। यही आध्यात्मिक विकास का प्रारम्भ माना जाता है।

प्रारम्भिक विकास का ही नाम सम्यग् दर्शन कहलाता है। उस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति जब जीव को होने लगती है, तभी से उस के भवो की गिनती प्रारभ हो जाती है। उस से पूर्व के भवो की गणना नही की जाती।

सम्यग्दर्शन ही परमात्म दशा का बीजरूप है

जब तक आत्मा को सम्यग् दर्शन की प्राप्ति नही होती और इस अनुपम गुण की प्राप्तिद्वारा आत्मा को स्वरूप का भान नही होता और अपने निज स्वरूप को जानने की अभिलाषा प्रगट नही होती। तव तक वह उस के आविर्भाव (उत्थान) के लिये प्रयत्नशील नही

होती । यह सत्य समझना अत्यावश्यक है।

(आजके भौतिकवाद के काल मे भीषण भौतिक सुख की प्राप्ति के लिये कितना प्रयत्न किया जा रहा है । परन्तु आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति को आज पूर्णतया भुलाया जा चुका है, सभी जानते है यह किसी से छिपा नही है। सभी की यही स्थिति है) और अनन्त-काल मे सासारिकता मे ऐसा होना प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है।

जब तक सम्यग् ज्ञान का उदय नही होता तब तक जीवात्मा की भावनाओ को पलटा नही जा सकता। इसी लिये सम्यग् ज्ञानको परमात्मपद का बीज स्वरूप माना जाता है। महापुरुषो ने यही वर्णन किया है।

श्रमण भगवान महावीर की आत्मा ने किस भवमे, किन सयोगो मे सम्यग् दर्शन की प्राप्ति कि उनका सक्षेपमे विचार करना चाहिये, तथा उसका चितन और मनन करने से हमें भी उसी मार्ग पर चलने की प्रेरणात्मक शक्ति प्राप्त हो, और उस मार्ग द्वारा अपने भी अन्दर (आत्म मदिर में) सम्यग् दर्शन का उदय हो, तथा अनन्तकाल का भव अधकार नाश को प्राप्त हो, और निर्मल ज्ञान का प्रकाश आलोकित हो ऐसा प्रयत्न करना चाहिये । अपने कल्याण मार्गका दर्शनकाल और जीवन मे उस की प्राप्ति का सुलभ समय अब आ गया है-लीजिये-विचार कीजिये ।

नयसार के समय का काल

भगवान महावीर, महावीर के भवसे पूर्व-सत्ताईसवे भव पूर्व नयसार नाम के एक गाव के मुखिया रूप थे । उस समय को सस्कृति का सुवास काल भी कहा जाता है । अहिसा-करुणा, सत्य, सदाचार, सयम, सेवा भावना आदि मानव के हृदय मे व्याप्त भावनाओं से परिपूर्ण समाज

था-तव का । स्वार्थवृत्ति या संग्रहखोरी का पैशाचिक भूत-तब मानवो के मस्तिष्क मे नहीं था । मानव बहुत सजग धर्म के प्रति आस्थावान, दानधर्म, शीलधर्म, तपोधर्म, और भावधर्म का ज्वलन्त प्रतीक था। और इन मे सारा समाज पूर्णतया ओतप्रोत था । ऐसे सास्कृतिक सतयुग में मानव शरीर प्राप्त होना-भाग्योदय तथा सौभाग्य माना जाता था। कोई भी समय ऐसा नही होता जब पृथ्वी मनुष्यो से रहित रहे। परन्तु सत्युग के मनुष्यमे और कलियुग (चौथा आरा अथवा पाँचवे आरे के मानव) के मनुष्य मे जमीन आसमानका अन्तर होता है ।

सतयुग के मानव समुदाय के मनमदिर मे मानवता की ज्योति जीवित होती है, जलती रहती है । इस काल का-मानव, पशु, पक्षी सभी छोटे-मोटे जीव, निर्भय, विवेकी तथा सुखी होते हैं। इसके विपरीत कलियुगका मनुष्य सर्वथा भिन्न होता है, उनके मनमे पाशविक वृत्ति का घोर अन्धकार रहता हैं और अपना ही स्वार्थ तथा अहकार रूपी अधकार स्थान बनाए रहता है। ऐसी परिस्थितियो मे भौतिक विकास के नीचे दबे हुए उन जीवोमे निर्भयता या निराकुलता के स्थान पर आकुलता-व्याकुलता की पराकाष्टा होती है। (कोई एक व्यक्तिमे उसका अपवाद सर्वथा भिन्न बात है)

ग्राम प्रमुख नयसार का संस्कारी जीवन

नयसार का समय सस्कृति के विकास का युग था । उसका जीवन भी सत्य सस्कारो से पूर्ण था। गृहस्थ जीवन और घरबार के लिये उपयोगी लकडियो की व्यवस्था करने की भावनासे आवश्यकताओ की पूर्ति हेतु एक दिन नयसार अपने आदमियो के साथ भोजन आदि सामग्री लेकर नजदीक के एक जगल मे गया । यदि अपने देश की प्राचीन परपराओको विचारी जाय तो ज्ञात होगा कि गृहस्थ जीवन मे आवश्यक वस्तुओं के व्यापार की पहले प्रथा न थी । उन दिनो गृहस्थ लोग,

सामान्य रूप से-जमीन जागीरवाले पशुधनको पालन करने वाले, श्रम-जीवि तथा दूसरो को अपने समान मान कर उनको पालन करने वाले, होते थे। अनाज, दूध, घी, तथा दूसरे आवश्यक द्रव्यो के लिये परावलम्वन विलकुल न था। स्वावलम्वन पूर्ण जीवन था सवका।

नयसार भी इसी श्रेणीका एक उच्च गृहस्थ था। भीषण जगल मे जाने के वाद सूखे काटने योग्य वृक्षो से योग्य लकडियो को तोडना-काटना प्रारम्भ हो गया। नयसार की आज्ञानुसार सभी कार्यमे लग गए। यह क्रम दोपहर तक चलता रहा।

दोपहर हो जाने पर नयसारने अपने आदमियो को भोजन करने और फिर कुछ समय आराम करने की आज्ञा दी। सम्मिलित रूपसे नयसार तथा उसके साथी एक ही पक्तिमे भोजनके लिये वैठ गए। (मै मालिक हूँ- ये मेरे नौकर है- ऐसी भेदभावना नयसार के जीवनमे नही थी। वह सदा यही विचार करता था कि इन्ही लोगो के कारण मै सुखी हूँ और नौकरो के मनमे यह भावना थी कि हम अपने मालिक के कारण ही सुखी है) इस प्रकार मालिक और नौकर के वीच ऐसा सुखद-सम्वन्ध हमारे देशमे चिरकाल से था-और दोनो पक्ष अपना अपना कर्तव्य पूर्ण परायणता से करना धर्म मानते थे। यही कारण था कि वे सभी सुखी थे। शान्ति थी जीवनमे। नयसार की अन्तर्आत्मा तो तीर्थंकर पद की योग्यता प्राप्त कर रही थी उस मे यह भावना होना कोई आश्चर्य की वात नही।

इस प्रकार नयसार ने भोजन की आज्ञा दी।

नौकर—चाकरो के प्रति प्राचीन काल की कौटुम्विक भावना

अपने सुप्रसिद्ध कल्पसूत्रमें सेवक अथवा नौकर वर्ग के लिये "कौटुम्विक पुरुष" शब्दका प्रयोग किया गया है। सिद्धार्थ राजा जब

अपने सेवको को किसी कार्यवश बुलाता था तो उस प्रसग मे—"तएण सिद्धत्थेणं राया कोटुविय पुरिसे सद्दावेई" ऐसे वाक्यो का प्रयोग किया गया है। इस देश मे जव तक श्रीमतो के मनमे यही कोटुविक भावना रही तव तक उनका अपने आश्रित नौकर—चाकरो के प्रति सद्भाव, एकरूपता विद्यमान रही और इस प्रकार नौकरपना।साम्यवाद अथवा समाजवाद को कोई स्थान न मिला क्यो की उसका प्रश्न ही नही उठ सकता था।

जव से यह कोटुविक भावना का ह्रास हुआ और साथ ही साथ सेवको के मन से अपनी वफादारी-ईमानदारी समाप्त होने लगी, नए नए प्रकार के वादो का जन्म हुआ और दोनो पक्षो के वीच असमानता कशमकश विभिन्न धारणाओका अन्तर पैदा हुआ। इस से अशान्तिको जन्म मिला। महापुरुषोका जीवन चरित्र पढने मात्र से कोई उपयोग नही, परन्तु उसका पठन कर और मनन कर उन महापुरुषो के जीवन की घटनाओ को जीवन मे उतारने से ही जीवन पथ उज्ज्वल और कल्याणकारी वनता है। यही सच्चा फल फलित होता है।

नयसार के मनमें दान धर्म की उदार भावना

नयसार और उसके साथी एक पक्ति में भोजन के लिये वैठ-गए। भोजन सामग्री भी यथा इच्छित प्रमाण मे सभीके समक्ष परोस दी गई। परन्तु भोजन प्रारम्भ हो, इस से पूर्व नयसार ने अपने साथियो से कहा—"इस निर्जन स्थान मे हम सव भोजन के लिये वैठे है-अत ऐसे स्थानमें इस समय किसी साधु अथवा अतिथि की तो आशा कहा से होगी ?

घरमे नयसार का ऐसा नियम था की किसी भी साधु-अतिथि अथवा दीन-दुखी के मुहमे भोजन डाले विना वह अन्न ग्रहण नही करता था। परन्तु यह तो घना जगल था, वीहड काटो से भरा एकान्त स्थान,

फिर ऐसे निर्जन प्रदेशमे किसी अतिथि अथवा साधु या दीन–दुखी का कहा सयोग ?

परन्तु मन मे आई शुभ धारणा फलीभूत तो होती ही है । नयसार की अतर्आत्मा से उस समय यही आवाज आ रही थी कि "मैं आज यह क्या कर रहा हूँ ? आज मैं कितना मदभागी हूँ कि किसी भी साधु अतिथिको विना भोजन कराए भोजन कर रहा हूँ ।"

उसे भी भूख सता रही थी । दूसरे लोग भी भोजन प्रारभ करने को आतुर थे । थके हुए थे–क्षुधा जोर की लगी हुई थी । फिर भी दोचार मिनिट की प्रतीक्षा कर-नयसार खडा होकर चारो दिशाओ मे देखने लगा । उत्तम आत्माओको भावनाए भी उत्तम ही होती है, और उनका पुण्यवल भी महान होता है । इसी पुण्यवल के प्रभाव से उनका मनोरथ भी सहज रूप से फलित होता है ।

नयसारका पुण्य फल भी ऐसे ही मनोरथ की पूर्तिका साधक हुआ । चारो दिशाओ मे उत्कठा से देखते हुए मनमे शुद्ध भावना के कारण उस वीहड वन मे रास्ता भूले कोई मुनि महाराज की आकृति उसे द्रष्टिगोचर हुई । उन्हे देखकर, दौडकर वह उसी दिशामे पहुचा और सामने थके, मादे, परेशान मुनि महाराज को देखकर चरणो पर गिर गया ।

मुनि महाराज ने भी "धर्मलाभ" का उच्चारण किया । नयसार की प्रार्थना पर मुनिमहाराज उस स्थान पर आए जहा नयसार के साथी अभी तक भोजन की प्रतीक्षा मे बैठे थे । सभी के चेहरो पर आनन्द भाव प्रगट हो गया । घरमें प्राप्त होते आनन्द से यह आनन्द कई गुणा अधिक था । इस वीहड वन मे यह लाभ अद्वितीय सुखका कारण प्रतीत हुआ । सभी सेवको ने मुनिराज को प्रणाम किया ।

नयसार द्वारा मुनिभक्ति और बहुमान

मुनि महाराज को योग्य स्थान पर बिठा कर नयसार ने हाथ जोड कर पूछा–"हे कृपालु, इस विकट वन प्रदेश मे आप कहा से भटक कर आ गए ?" मुनि ने कहा "महानुभाव, विशाल साधु समुदाय के साथ एक ग्राम से दूसरे गाव विहार कर जा रहे थे, मैं थोडा पीछे रह गया। इस कारण मे मार्ग भूल गया। मार्ग बहुत ढूढा–जिस गाव को जाना था उस का मार्ग मालूम ही न पडा, और इस वन प्रदेशमे आ गया। भूख–प्यास के कष्ट की चिन्ता हमें नही–परन्तु साथ के दूसरे साधु हमारी चिन्ता कर रहे होगे–इस बातका हमे दुःख है।"

यह सुन कर नयसार ने कहा–"गुरुदेव ! आप योग्य भिक्षा ग्रहण कर–हमे सुपात्र दानका लाभ दो। आप को इस बीहड वन मे कटको कीर्ण मार्ग पर यह कष्ट उठाना पडा- यह ठीक तो नही हुआ परन्तु मेरे लिये तो यह अहोभाग्य का कारण हुआ है, इस जगल प्रदेशमे आप जैसा पूजनीय परिग्रह दर्शन वाला और सुपात्र ज्ञानी मिल गया, आप हमें लाभ दीजिये–आप योग्य भिक्षा ग्रहण कीजिये–धर्म की मर्यादा के अनुरूप आहार लीजिये, हम भी भोजन कर लेते है, फिर हम आप को उसी मार्ग पर पहुचा देंगे, जिस तरफ आप के दूसरे साधु गए है। इस प्रकार आप की चिन्ता मिट जाएगी।"

नयसार को मुनिद्वारा बताया भाव मार्ग :

गृहस्थ जीवन मे साधु सतो के प्रति किस प्रकार का आदर तथा अन्तरात्मा द्वारा भक्तिभाव होना चाहिये–इस का यह स्पष्ट अनुपम दृष्टान्त है। आजकल तो यदि विहार करते हुए साधु किसी शहरमे पहुचे और उन्हे वहा जिनालय या उपाश्रय का स्थान मालूम न हो, और वे किसी तिलकधारी श्रावक से मिले (चाहे मार्ग मे या दुकान पर बैठे हुए) और देरासर या उपाश्रयका मार्ग पूछे तो वह सखाई

कह देता है—"सीधा चले जाओ—थोडा आगे चल कर दाईं बाजू रास्ता आता है उसी तरफ घूम जाना, आगे तुम्हे मिलेगा"। ऐसी स्थिति मे आजके और नयसार के समयमे कितना अन्तर प्रतीत होता है ? कैसी उदार प्रवृत्ति थी, उस समय के श्रावको मे ?

नयसार की प्रार्थना सुनकर मुनि महाराज ने योग्य आहार ग्रहण किया। और पास मे ही बैठकर गोचरी ली। नयसार और उसके साथियो ने भी इस भीषण वन मे तपस्वी मुनिमहाराज की भक्तिभाव से सेवा कर आपसमे वातचीत करते अपने आपको धन्य धन्य मान कर भोजन क्रम पूर्ण किया। भोजन समाप्त हो जाने पर मुनि महाराजको मार्ग वताने के लिये किसी दूसरे आदमी को न भेजकर वह स्वय उनके साथ चला, यह विचार करता हुआ कि "यह सौभाग्य मुझे और कहां मिलेगा" ? वह स्वय उनके साथ चला। रास्ते मे चलते चलते मुनि महाराज ने नयसार की मन स्थिति को भली प्रकार पढ लिया और उसे उचित धर्म मार्ग की शिक्षा देने लगे।

कर्मप्रवाह-परपरा का कारण ?

"आत्मा अनादि है, यह ससार भी अनादि है, और ससार का कारणरुप कर्म सयोग भी प्रवाह की अपेक्षा से अनादि है। चौरासी लाख जीव योनियो मे भ्रमण करना अथवा चार भवो मे भटकते रहना यह आत्माका मूल स्वभाव नही है। फिर भी अनादिकाल से कर्मसत्ता के कारण से ससार मे भ्रमण करते हुए अनन्त "पुद्गल परावर्तन" जितना समय आत्मा ने गुजारा है और अब भी जब तक आत्मा को आत्म स्वरूप का ज्ञान, आभास नही होता, यह भ्रमण यू ही चलता रहेगा। कर्माधीन इस आत्माको किसी न किसी गति मे जन्म लेना ही पडता है। जन्म लेने पर शरीर धारण तो निश्चित है ही, जैसी जाति वैसी ही शरीरको इन्द्रिया भी प्राप्त होती है, वैसी ही इन्द्रियो के प्राप्त होने पर उनके

अनुकूल विषयो की प्राप्ति मे सुखो की कल्पना और फिर प्रतिकूल स्थिति मे विषयो के लिये दुख की कल्पना भी तो खडी हो जाती है। सुख की भावना से—कल्पना से अन्तर मे राग भाव प्रगट होता है, दुख की कल्पना से आत्मा मे द्वेष भाव पैदा हो जाता है और ये रागद्वेष द्वारा पुन नये कर्मो का वध प्रारम्भ हो जाता है। वीज मे से फल और फल मे से वीज अथवा अडे मे मुर्गी और मुर्गी मे से अडा सदृश रागद्वेष रूपी भाव कर्म से द्रव्य कर्म और द्रव्य कर्मो से भाव कर्म इस प्रकार से कर्म प्रवाह के कारण स्वरूप जन्म—जरा मरण—आधि—व्याधि—उपाधि, रोग शोक, सताप आदि दुखो से भरपुर इस ससार मे परिभ्रमण चलता रहता है। और यह आत्मा इस मायाचक्कर मे अवस्थित रहता है।

मानवजीवन की सफलता के लिये क्या करना चाहिये ?

हे महानुभाव ! इन्द्रिय सुख के लिये, विषयो के प्रति अनुकूलता प्रतिकूलता में सुख दुख की कल्पना करनी यह भयकर अज्ञान भावना है। सच्चा सुख तो आत्मा के गुणो की अनुकूलता मे ही है। आत्मा में स्वय के ज्ञान दर्शन चारित्र रूपी गुणो के कारण अनन्त सुख भरा हुआ है। उस महान चिर सुख के समक्ष यदि सारे विश्वका भौतिक सुख इकट्ठा कर लिया जाय तो भी आत्मा के सुख का एक अश भी सुख नही दीखेगा। भौतिक सुख जीवन में कितना भी प्राप्त क्यो न हो, परन्तु वह सुख क्षणीक ही है, चिर स्थायी नही। आत्मिक सुख अविनाशी है, और भौतिक सुख की पराधीनता आत्मा के लिये अध पतन का कारण होती है। आत्म सुखकी स्वाधीनता आत्माके उत्कर्षका कारण होती है। इतना सव होते हुए प्रत्यक्ष दर्शन मे क्या आता है ?

आज तक अनन्त काल में जीव ने भौतिक सुख के लिये जो प्रयत्न और पुरुषार्थ किया है उस से यह जीवन पूर्णतया निष्फल सा हो गया है। मानव जीवन—आर्यक्षेत्र—पचेन्द्रिय की पूर्णता आदि अनुकूल साधनो

की सफलता भौतिक सुखो की प्राप्ति में नही। मनुष्यत्व आदि साधनो की सफलता तो-सत्य धर्म मार्ग—दान, शील, तप, और भाव इन चार प्रकार के धर्मों की आराधना द्वारा सम्यग् दर्शन आदि गुणो को प्राप्त करने में है। अनन्त की मालिक यह आत्मा कर्मसत्ताके कारण आवरणमय हो गई है, ऐसी आत्माको अनन्त सुखमय श्रेष्ठ बनाने के लिये पुरुषार्थ मे ही मानव जीवन धन्य हो सकता है।"

इस प्रकार मुनिराज के वचनो को सुनता हुआ (भावी महावीर) नयसार उनके साथ चलता जा रहा है। मुनि महाराज उसे सच्चा धर्म मार्ग प्रवचन देते है। जब मुनिराज नयसार को भावमार्ग, मोक्षमार्ग समझाते है तो वह गद् गद् हो उठता है उसे ऐसा प्रतीत होता है मानो उसके कानो मे अमृत वर्षा हो रही है। नयसार ऐसा अनुभव करता है जैसे जीवन में उसने कभी ऐसी अमृत वाणी का रस पहले नही पीया। वह एक एक शब्द का पान करता हुआ अन्त करण को तृप्त करता जाता है।

नयसार के हृदयमे सम्यग् ज्ञान् आदि सद्गुण तो पहले से ही विद्यमान थे। और भावी में तीर्थंकर पद प्राप्त करने की क्षमता उसमें थी ही-जिस मे असख्य आत्माओ के तरण का कारण बनना ही था। तो केवल मोह भावना के कारण उसमे थोडा पर्दा या आवरण था। ऐसे समय नयसार को तपस्वी शान्त प्रशान्त मुनिवर का यह सदोपदेश कर्ण छिद्रो द्वारा ज्यो ही आत्मा तक पहुचा-उसकी आत्मा का अधकार स्वय भाग गया। जिस प्रकार सूर्य के उदय से तम भाग जाता है। उस की आत्मा पर से मोह का आवरण छट गया और उसका मुख खिले कमल के समान देदिप्यमान हो गया। केवल ज्ञान का अश समान तेज प्रकट हो उठा। सम्यग् दर्शन रूपी ज्ञान से विस्फुरित नयसार का आत्म रूपी कमल खिल उठा और भावी काल में महावीर का जीवन रूपी पुष्प समय का भाव-प्रारम्भ हो गया।

२

महानुभाव मरिचि (भगवान महावीर का तीसरा भव)

गाव के मुखिया नयसार के भव मे जगल में कठोर प्रदेश में उत्तम मुनियो की भावना रूप सेवा और सम्यग् दर्शन के द्वारा-महावीर प्रभु की आत्मा ने महावीर बनने के निमित्त स्वरूप मगलाचरण रूप यह कर्मबध प्राप्त किया। नयसार का बाकी जीवन, आदर्श गृहस्थ रूपमें पूरा हुआ। आयु पूर्ण कर पुण्य के प्रभाव से स्वर्गलोक मे गया। स्वर्ग की देवयोनि से आयुष्य पूर्ण कर वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर भगवान श्री ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत महाराजा के यहा मरिचि कुमार के नाम से इस आत्मा ने अवतार धारण किया।

भगवान महावीर के सम्यक्त्व प्राप्ति के साधन रूप सत्ताईस भवो में से यह तीसरा भव मरिचि कुमार का माना जाता है। भगवान महावीर के सभी भवो में से कुछ भव विशेष रूप से प्रसगो से भरपूर है। कुछ एक भव प्रसगों रहित है। नयसार का भव, मरिचि का भव,

विश्वभूतिका भव, त्रिपृष्ठ वासुदेवका भव, प्रियमित्र चक्रवर्तीका भव और नन्दन मुनिका भव ये विविध प्रकार के प्रसगो से पूर्ण है। हर एक भव का जीवन प्रसग अनेक प्रकार से शोध और विचारणीय होने से यहा हम सर्व प्रथम मरिचि कुमार भव का जीवन लिखने का प्रयास करते है।

भगवान श्री ऋषभदेवजी से मरिचि कुमार को दीक्षा

मरिचि कुमार महाराज भरत के यहा पुत्र रूप मे अवतरित हुआ। बाल्यावस्था से ही सुन्दर सस्कारो के मिलने के बाद समय आने पर सभी कलाओ की व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त हुई। आत्मा में सम्यग् दर्शन का बीज तो नयसार के भव से ही प्राप्त था, ऐसी सम्पन्न आत्मा को, जिस के अन्तराल में इन गुणो का प्रकाश भरा हुआ हो और वैसे ही उच्च सस्कार प्राप्त हुए हो—ऐसी स्थिति मे धन—दौलत—एश्वर्य तथा बाह्य सुख रुप भोगोपभोग की सामग्री मे उनका मन लिप्त नही रहता। ऐसी आत्माओकी रुचि तो स्वभावतया देव, गुरु, धर्म, तथा मोक्ष में ही लीन रहती है। मोक्ष प्राप्तिका साधन रूप देव गुरु, धर्म के प्रति आस्था में मन रमा रहता है। शास्त्रो मे यह स्पष्ट है कि जिस आत्मा की रुचि भोग उपभोगो की ओर रुचि रखती है वह आत्मा मिथ्याद्रष्टि कहलाती है, और जिस आत्मा की रुचि देव, गुरु, धर्म अर्थात् आत्म कल्याण की ओर झुकी होती है ऐसी आत्माको सम्यग्द्रष्टि कहते है। अर्थात यही उन्हें (आत्म कल्याणकी साधन सामग्री) वास्तविक आमोद प्रमोद रूपी प्रतीत होती है।

मरिचि कुमार ने जब यौवन की सीढी पर कदम रखा तो उस समय भगवान ऋषभदेव को, विश्व को त्रैकालिक भाव दर्शानेवाला केवलदर्शन प्राप्त हो चुका था। हजारो भूखी आत्माए प्रभुकी अमृत-समान धर्मदेशना को श्रवण कर सयम के पवित्र मार्ग पर चलने लगी

भव–१
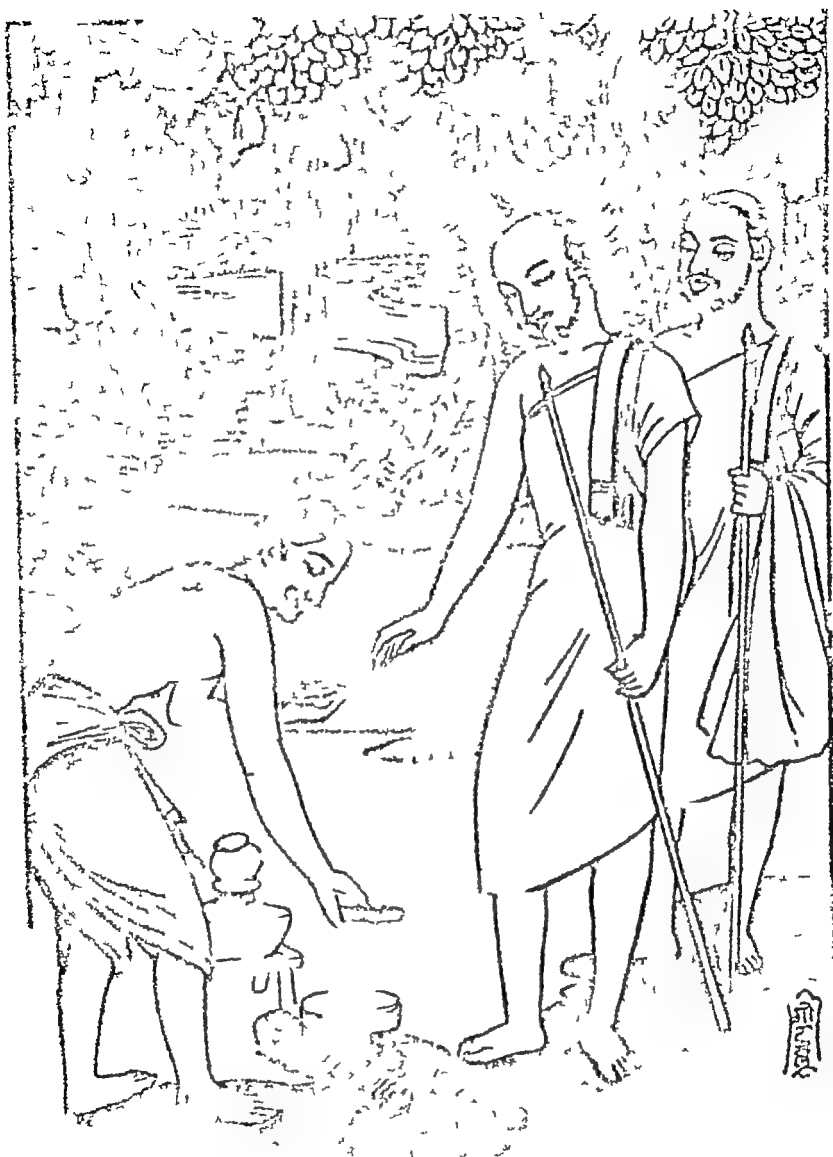
प्रथम भव में भगवानकी आत्मा नयसार के रूप में अवतरित थी। ये नयसार कर्मवश जंगल में गया, वहा अचानक उत्तम, त्यागी मुनिवरों से भेंट होने पर उनके पात्रमें पवित्र आहार अर्पित करता हुआ।

पृष्ठ ११ देखो

थी। मरिचिकुमार भी एक दिन यौवन के प्रथम चरण में ही यह धर्म-देशना सुनने पहुच गया। आत्मा में सस्कार का बीज तो था ही। भगवान का उपदेश सुन कर आत्माको निर्मल जल का प्रवाह रूपी जल सिंचन हुआ और वैराग्य का अंकुर फूट पडा। भरत महाराज की सम्मति लेकर मरिचिकुमारने भगवान ऋषभदेव के पास दीक्षा ग्रहण कर ली।

मरिचिकुमार अब मरिचिमुनि हो गया।

भगवान ऋषभ देवके समय का काल श्रद्धाबल से परिपूर्ण सुगन्ध से व्याप्त सुसस्कार पूर्ण काल था। तर्क अथवा दलीलो का जीवन मे कोई सार न था। इस का कारण यह था कि महापुरुषो के वचनो में जनसाधारण की पूर्ण आस्था-विश्वास तथा अकाट्य भक्ति थी। (परन्तु आजकल ऐसा नही है- क्योकि आज तर्क और वितर्क के पीछे अधिकतर विपरीत मनोदशा तथा स्वार्थ-विपता ही होती है जिसे स्व-की दुर्बलता भी कहा जा सकता है)

ऋषभ देवजीके समय के जीवो को—"जड और सरल" कहा जाता है। इसका भावार्थ जड मे तो उपयुक्त नही होता, परन्तु सरल-शब्द मे भावार्थ स्पष्ट मिलता है। शास्त्रीय अभ्यास कम हो या अधिक, परन्तु दलीले करने की शक्ति बहुत ही अल्पमात्रा में थी। या अधिक मात्रा में इसका सम्यग्ज्ञान से तो कोई सम्बन्ध नही है। इसलिये आत्मा के उत्थान का सीधा सम्बन्ध तो सरलता तथा ऋजुता के साथ है। जीवनमें जितनी सरलता होती है उतनी ही ज्ञान की निर्मलता होती है।

ज्ञान जितना निर्मल होता है उतना ही आत्म कल्याण की भावना अधिक होती है। भिन्न भिन्न प्रकार के शास्त्रो का कितना भी गूढ श्रमपूर्वक अध्ययन किया हुआ हो, परन्तु अन्त करण में यदि ऋजुता को स्थान नही तो वह शास्त्रो का ज्ञान निर्मलता प्राप्त ज्ञान नही माना जाता, अर्थात् अपूर्ण ही माना जाता है। ऐसा ज्ञान मलिनता के कारण

होता है। ज्ञान का मुख्य उदेश्य आत्मकल्याण के मार्ग पर प्रकाश फैलाने का है। यदि वैसा नही होता तो वह सम्यग्ज्ञान नही कहलाता।

भगवान ऋषभ देव के समय के जीवो को जो जड-या सरल कहा जाता है। उस का मुख्य कारण यू समझ मे आता है कि जिस प्रकार आज कल, ज्ञान विज्ञान का प्रसार और उन्नति है- वैसी तव न थी, परन्तु इतना तो मानना ही होगा कि जितने प्रमाण में ज्ञान था- वह तो वहुलतामे निर्मल था, श्रद्धा की सुगन्ध से पूरित था, और स्वं-पर कल्याण के राजमार्ग पर वह ज्ञान प्रकाश फैलाने वाला था। यही कारण था कि भगवान ऋषमदेव के समय मे मोक्ष जाने वाली आत्माओ की सख्या भगवान अजितनाथ से लेकर महावीर तक सभी तीर्थकरो से अविक थी। असख्य गुणी अधिक थी।

मरिचि मुनि के उष्ण परिषह का प्रसग और नवीन वेष की कल्पना।

ऐसे आत्मकल्याणके अनुकूल समय में मरिचिकुमारने प्रभु से दीक्षा ली, और ज्ञान, ध्यान, सयम, और तप की आराधना करते हुए मरिचिमुनि उनमें सलग्न हुये। भगवान की छत्रछाया में ग्यारह अगो में पारगत हो गये। एक वार प्रचड ग्रीष्म ऋतु मे- प्रचड सूर्य तापमे एक तरफ खुले मस्तक से सूर्य की किरणो का उग्र ताप सहते नगे पाव जलती पृथ्वी पर चलते हुए उत्पन्न भयानक सताप से त्रस्त होकर मरिचि मुनि का मन व्याकुल हो गया। सयम ग्रहण करते समय उस शरीर की माया को त्यागने वाला मरिचि शरीरको कष्ट पाते देख व्याकुलतावश फिर शरीर की माया में फस गया। कर्म निर्जरा के लिये "उष्ण परिसह" का यह प्रसग कर्म वन्धन का कारण वन गया। वह सोचने लगा "ऐसा ऊष्ण परिषह का सताप अविक काल तक मैं नही सह सकता, कहा मेरी कोमल शरीर, कहा यह कष्टमय जीवन, ऐसा जीवन तो मुझसे व्यतीत न होगा। एक वार घर छोड़

दिया, फिर घर लौट कर जाना और गृहस्थ जीवन अपनाना यह भी जैसे कुलीन के लिये उचित नही है, यदि यह सब भय छोड कर मै घर चला भी जाऊँ तो मेरे माता-पिता, भरत महाराजा, ससार पक्ष वाले, मुझे स्थान देगे भी या नही यह भी तो शकास्पद है?, ऐसी परिस्थितिमे मै क्या करु?" इस प्रकार विचार करता मरिचिमुनि असमजस मे पड गया ।

बहुत सोच विचार कर उसने एक मार्ग ढूढ निकाला । और वह मन ही मन कहने लगा—

"श्रमण निर्ग्रन्थ त्रिदड से रहित है, परन्तु मै वैसा नही हू इसलिये मै यह चिन्ह रखूगा-

"साधुलोग लगभग मोह के आवरण से दूर रहते है मै वैसा नही हू इसलिये मै मस्तक पर छत्र रखूगा ।"

"साधु सदा नगे पाव चलते है- मै वैसा नही हूँ- क्यो कि मुझसे कष्ट सहन नही होता- मै पैरो मे पादुका धारण करुगा ।
"साधु तो स्नान रहित है- मै स्नान करुगा ।"

"साधु लोग-वस्त्र पात्रादि की मूर्छता रहित है । मद कषायवाले है । मैं वैसा नही हूँ, मैं भगवे वस्त्र पहनूगा।"

इस प्रकार मरिचिने नवीन वेष धारण करने व नया धर्म मार्ग का अनुसरण करने का निश्चय किया और वह उसी मार्ग पर चलने लगा । परन्तु श्रद्धा मे वह पूर्व समान ही उत्तम मार्गी रहा । वह सदा पहले जैसा ही सत्यमार्गका उपदेश देता था और ग्यारह अगका ज्ञान प्रसारण करता । यदि कोई राजपुत्र या दूसरा प्रतिबोध पाना चाहता तो वह उसे प्रभु के पास ही भेजता, उस की धर्म के प्रति श्रद्धा पूर्व समान ही स्थिर रही ।

मरिचि-आचार से पतित हुआ परन्तु श्रद्धासे पतित नहीं हुआ

मरिचिके दीक्षा ग्रहण करने के बाद काफी वर्षके पश्चात्का यह द्रष्टान्त और घटना प्रसग काफी विचारणीय है। हम इस प्रसगके विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही उसपर विचार करते है तो यह अवसरोचित ही दीखता है। नयसार के भव मे प्राप्त सम्यग्दर्शन, मरिचिके भव मे भी था-या नही? यदि था तो फिर प्रथम सयम ग्रहण करने के बाद मरिचि जैसे मुनिकी आत्मामे ऐसे कायरतापूर्ण विचार कैसे प्रकट हुए? यह प्रथम प्रश्न है?

उसके समाधानमे, नयसार के भवमें प्राप्त हुआ सम्यक्त्व और उस के बाद देवलोक भव मे और बादमे मरिचि के भवमे दीक्षा ग्रहण करने के उपरान्त नए वेश की कल्पना तक यह ज्ञान अविच्छिन्नपने तक टिका रहा-यह सभव है। क्योंकि क्षयोपशम सम्यक्त्व अधिक मे अधिक छयासठ सागरोपम तक शास्त्रो में निहित है। भरत महाराज के यहा जल प्राप्त करने के बाद भोगोपभोग की विपुल सामग्रीका परित्याग करके चरित्र ग्रहण करने का प्रसग, उस के पश्चात् ज्ञानध्यान, सयम, तप की आराधना में सलीनता-ये सभी प्रसग, मरिचि के आत्म मदिर मे सम्यग्दर्शन का दिल प्रकाश होने का प्रबल कारण व द्योतक प्रतीक होते है। "उष्ण परिसह" के प्रसग मे सयम के आचार में मरिचि के दिल में जो शिथिलता आई परन्तु जहा तक श्रद्धा का प्रसग है उस में तो जरा भी क्षीणता नही आई। चरित्र मोह के उदय से आचरण मे शिथिलता आ जाना स्वाभाविक प्रतीत होता है, परन्तु आत्मा में सम्यग् दर्शन विद्यमान होने के कारण परिणाम मे अर्थात् श्रद्धा मे शिथिलता आना असभव है। बेशक चरित्रमोह के उदय से मरिचिमुनि सयमोचित आचार से भ्रष्ट हो गया। परन्तु अन्तर में आत्मा द्वारा तो उसने श्रद्धा-रूपी मार्ग नही छोडा, और उसने यह निश्चय कर लिया है कि—"मैं अपनी निर्बलता अथवा कायरता के कारण यह सयमरूपी मार्ग का

आचरण नही कर सकता यह मेरी अपनी कमजोरी है, मेरा दोप है, परन्तु मोक्ष प्राप्ति के लिये पवित्र संयम मार्ग की आराधना यही एक-मात्र उपाय है"।

ऐसी श्रद्धा के कारण मरिचि अब भी अपने धर्म और श्रद्धा पर अडिग है। इसी कारण से धर्मदेशना द्वारा यदि कोई राजकुमार —राजा या दूसरा कोई प्रतिबोध पाना चाहता है वह उसे अपना शिष्य न बनाकर सीधा प्रभुके पास या उनके शिष्यो के पास भेज देता है। इस बात से यह सिद्ध होता है कि इस मरिचिमे अभी भी सम्यग् दर्शन का अस्तित्व जीवित है। यदि मरिचि के अन्तर प्रदेश से सम्यग् दर्शन का प्रकाश अस्त हो गया होता तो उस में श्रद्धा का भी अभाव हो चुका होता और श्रद्धाके अभाव मे प्रतिबोध पाए पुरुषो को आत्माओको प्रभु के पास भेजने का उपक्रम घटित न होता। फिर उसमें इस विचार का आना "कि मेरे जैसे कुलीन आत्माको एक बार घरबार छोडकर पुन गृहस्थजीवन मे जाना उचित नही" युक्ति संगत प्रतीत होता है।

गृहे गमन तु सर्वथा अनुचितं

ऐसे सद्विचारो के कारण यह मानना सर्वथा उचित है कि उस मे अब भी श्रद्धाबल दिव्यमान था।

श्रद्धा और परिणाम से पतित की दुर्दशा :

जो भक्ति आचार से पतित होने के साथ साथ श्रद्धा से भी पतित हो जाता है उस की आत्मा की परिस्थिति अत्यन्त विकट सी हो जाती है। और ऐसा जीव अत्यन्त पापमय मार्गी हो जाता है। श्रद्धा से पतित जीव अपनी दुर्बलता को नही देख पाता वरन परम पवित्र दीक्षा अथवा दीक्षित अवस्थामे चलते श्रमण संघ की सच्ची झूठी कम-जोरिया या दुर्बलताए ही उसे दृष्टिगोचर होती है। अपनी कमजोरिया को ढाकने के लिये यह श्रद्धापतित व्यक्ति धर्म और धर्मी वर्ग की निन्दा

अथवा अवहेलना मे ही सुख को प्राप्त करता है। और उस प्रकार धर्म और धर्मियो की निंदा द्वारा दर्शन मोहनीय कर्मका उपार्जन करता है। और अनन्त काल तक यह आत्मा ससार में परिभ्रमण करने के साथ साथ दुरन्त दुखोका भोग करता है।

किसी भी आत्मा मे आचार पतितपन या श्रद्धा परिणाम पतितपन, इन दोनो का होना हितकर नही होता। फिर भी यदि आचार पतित आत्मा मे यदि परिणाम स्वरुप श्रद्धापतितपन न आए तो ऐसी आत्मा के पुन आचार के पवित्र मार्ग पर आने मे समय नही लगता।
परन्तु आचार के साथ श्रद्धा के भी पतन स्वरुप गिरी आत्मा का पुन मूलमार्ग पर आना अत्यन्त दुष्कर हो जाता है।

इस के वाद के मरिचि के प्रसग मे कपिलका समागम का द्रष्टात जव आता है उस अवसर पर मरिचि द्वारा कहे शव्द "कपिला इत्यपि इहयपि" (वहा प्रभुमार्ग में धर्म है और यहा मेरे मार्ग में भी धर्म है) इसके साथ साथ वादमें उस के आत्म मदिर में प्रकट हुए कुछ विपरीत विचारो व अध्यवसायके प्रसग मरिचि के जीवन में शुद्ध मार्ग की श्रद्धा से पतित होने का द्रष्टात देते है। इस सदर्भ को हम आगे लेंगे। परन्तु कपिल से मिलने के पूर्व यही मरिचि अन्यवेशमें रहकर भी जिस भावनात्मक जीवन मे रहा उस से यही विचार होता है कि आचार मे परिवर्तन होते हुए भी उस की श्रद्धा में परिवर्तन नही हुआ।

प्रभु से- भरतका प्रश्न पूछना।

मरिचि भगवा वस्त्र धारण कर उसी रुप में प्रभु के साथ ही विचरण करता है, और त्रिकरण योगसे परमात्माकी आराधना करता रहा। एक वार भरत महाराजने सहज स्वभावमे प्रभुसे पूछा— "हे प्रभु आप के समक्ष विराजमान आत्माओमे कोई ऐसी आत्मा है जो

भावी तीर्थंकर होगी ?" भगवान ऋषभदेव तो सर्वज्ञ थे, जीव, अजीव सर्व द्रव्योका त्रैकालिक भावका ज्ञान था। उन्हे भरत चक्रीके इस प्रश्न को सुनकर उन्होने कहा—

"हे भरत! तेरा पुत्र मरिचि—जो इस समय त्रिदडीके रूपमें हमारे साथ विचरण करता है वह इस भरत खड मे वर्तमान चौवीसी का चौवीसवा तीर्थंकर "महावीर" नाम से होगा। इतना ही नही-यह तो भरत क्षेत्र मे होने वाले-वासुदेवो मे त्रिपृष्ट नाम का प्रथम वासुदेव भी होगा-इस के वाद महाविदेह क्षेत्र मे-मूकानगरी मे प्रियमित्र नाम के चक्रवर्ती के तरीके मे भी यह अवतार ग्रहण करेगा।"

भगवान ऋषभदेवजीके मुखसे-अपने पुत्र मरिचि का यह भविष्य जानकर भरत राजा को अपार आनन्द प्राप्त हुआ। क्योकि उनका पुत्र भविष्य मे चक्रवर्ती तथा वासुदेव होगा। इस मे अधिक आनन्द तो उन्हे यह विचार कर हुआ कि—उनका पुत्र—अनन्त आत्माओका तारणहार कल्याणकारी तीर्थंकर पदको प्राप्त होगा।

यह विचार करते हुए—भरत महाराज की अन्तर आत्मा आनन्द से भर उठी। स्वय महाराज भरत सम्यग्-द्रष्टि तथा तद्भवमें मुक्तिगामी आत्मा थे। सम्यग्द्रष्टि किसी भी आत्मा के हृदयमें-अपने अथवा परिवारवाले या दुसरे कोइ भी जीवात्माके विषयमे पौद्गलिक सुखकी प्राप्तिसे वेशक आनन्द न हो—परन्तु स्वपर कल्याण साधक धर्म सम्वन्वी सावन सामग्री की प्राप्ति पर अनन्त आनन्द मिलता है यह स्वाभाविक ही है। ऐसे मैं जिस पद प्राप्तिद्वारा विश्वका कल्याण होने वाला है, ऐमा तीर्थंकर पद अपने ही पुत्रको प्राप्त होने वाला है, ऐसा जान कर भरत महाराज के मन की क्या दशा होगी—विचारिये ?

भरतचक्रीका मरिचिके पास जाना और वन्दना।

इसी आनन्द मे भरत महाराज प्रभुको नमस्कार कर उस स्थान पर गये जहा मरिचि था और उस को तीन प्रदक्षिणा कर वन्दन

किया और साथ ही साथ कहा—"मैं आप के इस त्रिदंडी वेषको अथवा आपको वंदन नहीं कर रहा परन्तु भविष्य में भरतक्षेत्रमें होने वाले चौवोसवे तीर्थंकर महावीर नाम के तीर्थंकर होने की आप की आत्मा की योग्यता को नमस्कार कर रहा हूँ। यह बात सर्वज्ञ भगवान ऋषभ-देवके मुखसे जान कर मैं अपने भावी तीर्थंकर की वन्दना कर रहा हूँ। और आपकी आत्माका वारंवार अनुमोदन करता हूं। प्रभु के कथनानु-सार आपको त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में तीनों खंडोंका ऐश्वर्य प्राप्त होने वाला है, और प्रियमित्र चक्रवर्ती के भव मे चौदह रत्न-नव निधान के साथ ६ खंडोके ऐश्वर्य की प्राप्ति होने वाली है, परन्तु उस के लिये मेरा यह अनुमोदन या अभिनन्दन नही है। जिस भावतीर्थके अवलम्बन से हजारो-लाखो अथवा असंख्य आत्माए भव सागरको पार कर जाएंगी ऐसे तीर्थके प्रवर्तक तीर्थंकर आप भविष्य मे होने वाले है- इसलिये मेरा आपको वार वार वन्दन हो।"

सम्यग् दर्शन सम्पन्न आत्मा की मनोभावना

भरत महाराज तो सम्यग् द्रष्टि आत्मा थे। "सम्यग्दर्शन पूतात्मा रमते न भवोदधि" इस कथनके अनुरूप सम्यग् दर्शन सम्पन्न आत्माए संसारमें रहती तो है परन्तु ससारमे रमती नही। रहना और रम जाना इस मे महान अंतर हैं। इस ससार मे रहते हुए कितना भी अपार सुख-ऐश्वर्य-साधन-सम्पन्नता के होते हुए भी ये पवित्र आत्माए उसमे रमती नही हैं। इन धन्य आत्माओ को तो मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति मे ही आनन्द प्रतीत होता हैं। इतना ही नही अपितु जिस लिंग वेष अथवा आचार में मुक्ति की भावना का दर्शन नही मिलता उसे भी ये सम्यग्द्रष्टि आत्मा वन्दन प्रणाम आदि नही करती। इसका अर्थ विरोधात्मक नही परन्तु विरोध उसके विपरीत वेष व आचारो के प्रति होता है।

"जो जैसा है, उस को उसी प्रमाणसे मानना, तथा सद्भाव का प्रदर्शन इस का नाम सम्यग्दर्शन है, इस के विपरीत दशामे उसका नाम "मिथ्याद्रष्टि" कहलाता है।

सम्यग्दर्शन अथवा मिथ्यादर्शन की यह सक्षिप्त सी परिभाषा है। इस व्याख्याके अनुसार मरिचि का त्रिदडी वेश अथवा आचार दोनो ही व्यवहारकी द्रष्टि से मोक्ष का साधन नही, फिर उनके प्रति भरत महाराजाकी सद्भावना कैसे हो सकती है ?

बाजारमे जाकर किसी वस्तुका जानकार व्यक्ति उस वस्तु को खरीदने से पूर्व उसकी सत्यता तथा प्रमाणिकता को जाचता है, खोटी या बनावटी वस्तुको खरीदनेको तैयार नही होता, उसी प्रकार आत्मकल्याण का अभिलाषी आत्मकल्याण से विपरीत भावनो को भला कैसे स्वीकार करेगा ?

जैन दर्शन की विशालता के साथ व्यवहार मर्यादा .

जैन दर्शन यह कोई सकुचित दर्शन नही है। इस के सिद्धान्त और दर्शन अवर्णनीय है। जैन दर्शन मे स्व लिंग-अन्य लिंग तथा गृहि-लिंगमे भी मुक्ति प्राप्ति मानी गई है। शरीरका आकार स्त्री का हो या पुरुष का अथवा नपुसक का हो, परन्तु शरीरके आकार मे मुक्ति पर जैन धर्म कोई प्रतिबन्ध नही लगाता।

फिर भी व्यवहार मार्ग की व्यवस्था द्वारा तथा बालवर्ग के लिये आत्मकल्याण के प्रसगोको लक्ष्य मे रखकर बाह्य या अन्तर द्रष्टि से जहा जहा मोक्ष प्राप्ति का प्रसग आता है मोक्ष के विशुद्ध मार्ग का विषय आता हैं वहा वहा मन, वचन, काया से किसी भी प्रकार के अरुचि-कर प्रसगो से दूर ही रहना हितकर होना है ऐसा शास्त्रकारोका मत है।

इसी सदर्भ मे भरत चक्रवर्तीने मरिचिको कहा-"मैं तुम्हारे विचित्र त्रिदडी वेशको नमस्कार नही करता परन्तु तुम जो भावीकाल मे तीर्थंकर होनेवाले हो इस कारण से तुम्हे वन्दन कर रहा हूँ। ऐसा स्पष्ट वरुता राजा ने की।

३

महानुभाव मरिचि (भगवान महावीर का तीसरा भव)
(चालू)

इस प्रकार वन्दना करके और वन्दना का हेतु बताकर मरिचि को प्राप्त होने वाली तीर्थंकर पदकी अनुमोदना करते हुए राजा भरत अपने राजप्रासादको लौट आए।

मरिचि द्वारा-कुल का गर्व :

भरत महाराज के द्वारा बताए गए अपने भविष्यकाल के वर्णनको जानकर तथा उस में प्राप्त होने वाले उत्तम लाभोको जानकर वह त्रिदडी मरिचि-अहम् भावना से भर गया और अहम् तथा गर्वसे उन्मत्त हो कहने लगा—"मैं वासुदेव बनूगा-मैं चक्रवर्ती होऊगा, और मुझे तीर्थंकर भी बनना है फिर मुझ जैसी महान आत्मा और कौन है समारमे? तीर्थंकरो मे पहला तीर्थंकर मेरा दादा-(पितामह) चक्रवर्तियो मे पहला नवर मेरा-अरे! मेरा कुल भी कितना महान है।

आद्याह वासुदेवाना पिता में चक्रवर्तिनाम्
पितामहो जिनेंद्राणाम् ममाहो उत्तमं कुलम्।

ऐसे अहम् भावनापूर्ण वाक्यो को वह वारवार वोलने लगा। इतना ही नही वह तो अहकार वश इन वाक्योको दुहराता हुआ उन्मत्त की तरह नाचने लगा कूदने लगा। इस प्रकार से अपने हृदय मे एक सरीखी

अहम् भावना, विचारधारा तथा अहकार पूर्ण वचनो का वार वार उच्चारण और कायाद्वारा उन्मत्तपान मे कूद कादकी प्रवृत्ति के कारण स्वरुप मरिचिने मन, वचन और काया के इस व्यापार स्वरुप-कुलका अभिमान किया ।

वर्तमान काल में अहकार का वाहुल्य

जीवनमें कैसी भी उपलब्धिया क्यो न प्राप्त हो, परन्तु महान आत्माए फलो से भरे आम्रवृक्ष की तरह विनम्र ही वनी रहती है, गर्व नही करती । परन्तु ऐसी आत्माए ससारमे वहुत ही कम होती है।

आज की परिस्थितियो का यदि अवलोकन किया जाय, तो आज का मानव अहम्भाव अहकार गर्वकी पराकाष्ठा स्थिति पर पहुच गया है। पूर्व किये पुण्यो के सुयोगसे सम्पति आदि मिलने पर जीवनमें सरलता, सादापन तथा निर्मलता को धारण कितने करते है? और इस उपलब्धि से सिर ऊचा कर गर्वसे अकड कर चलने वाले कितने है? अर्थात् दूसरे प्रकारके लोगो से यह ससार भरा पडा है । अव धर्म तत्वो का अध्ययन कर के, अधिक वुद्धिमता प्राप्त करके भी दूसरे विद्वानो के प्रति तथा उनकी विचार धाराओ की तरफ सद्भाव और सम्यग् द्रष्टि रखने वाले आज के युगमे कितने मिलते है? फिर एकाद विषयमे डिग्री प्राप्त करने पर लोग गर्व से कहने लगते है कि "मै जो कहता हूँ वही वरावर है" इस प्रकार अधिकाश लोग अपनी वुद्धिका अहकार रुपी प्रदर्शन मे ही वडप्पन मानते है ।

किसी सघ-सस्था व सोसायटी के प्रमुख सेक्रेटरी अथवा मत्री पद प्राप्त होने पर निष्काम भाव से तन, मन, धन से समाजकी सेवा करने वाले कितने जन मिलते है ?

देखने मे तो यही आता है कि ऐसा उच्च स्थान प्राप्त होने पर अधिकारोके मिल जाने से उनका दुरुपयोग आरम्भ हो जाता है।

इस विषयमे आज के विचारकों और विवेकी जनो की मख्या तो अक्षुण्य है ।

अहंभाव से होनेवाली हानि ।

प्रथम तो किसी प्रकार का उत्तम अधिकार और उत्तम लाभ को प्राप्त करना कठिन ही होता है, परन्तु वैसा प्राप्त होने पर उसको पचाना और भी दुर्लभ होता है। आज के जीवन मे वात वातमे अहकार भावना हमारे रोम रोम मे व्याप्त हो गई है और इसी कारणसे आज राष्ट्रमे, समाजमे, धर्मसघ मे या घर घरमे आपत्ती, वैरभाव, सघर्ष का वातावरण दीखता है अपनी चरम सीमा पर। यह प्रत्यक्ष रूप से हमारे सामने ही तो है ।

वाचक शिरोमणी भगवान उमास्वाति महाराजने । "प्रशमरति ग्रन्थ" में कहा है ।

श्रुत-शील विनयसन्दूषणस्य धर्मार्थ काय विघ्नम् ।
मानस्य कोऽवकाश मुहुर्तपि पडितो दद्यात् ॥

अर्थात् – श्रुतज्ञान, शील और विनय आदि सद्‌गुणो को दूषित करने वाला धर्म, अर्थ, काम, पुरुषार्थ के कार्य मे महाविघ्न रूपी रुकावटें डालने वाले ऐसे अभिमान को सुज्ञ, ज्ञानी पुरुष एक मुहूर्त भी अपने हृदयमे स्थान नही देते।

मरिचि के हृदयमे अपने भावीमे होने वाले लाभको विचार कर तथा अपने कुल की कुलीनता और महानता का जो अभिमान उत्पन्न हुआ उस से वह अहकार और मद मे लीन हो गया। शास्त्रो मे कहे अनुसार–"जो व्यक्ति स्वय को प्राप्त होने वाले अथवा प्राप्त हुए-हुए-किसी भी प्रकार के उत्तम, भावो के लिये अहकार करता है वह भावी में होने वाले लाभ की शक्ति में ह्रास का कारण होता है, हलका स्थान प्राप्त करता है।"

इस प्रकार कुल की कुलीनताके मदमे मरिचिने नीचकुल कर्मका बध किया। जिस के प्रभाव से मरिचि के भव के बाद भगवान महावीर की आत्मा को जब कभी मानव शरीर प्राप्त हुआ तब तब अमुक अमुक भवोमें याचक वृत्ति के कारण उनकी गिनती उच्च कुल मे नही हुई और (ब्राह्मण कुल प्राप्त हुआ) और बचे हुए किसी कारण वश महावीर के भवमें (सत्ताइसवे भव) सर्वप्रकार देवनन्दा ब्राह्मणी के कोखमे बयासी दिन तक रहना पडा। यह भी तो एक विचारणीय विषय है।

उच्च-अथवा नीच गोत्र पर शास्त्रीय मत

उच्च गोत्र अथवा नीच गोत्र प्रकरण कोई आजकी समस्या नही अपितु अनादि काल से चली आई प्रथा और मत है। शुभ और अशुभ कर्मो के प्रसग मे ही गोत्रो का सम्बन्ध स्थिर माना गया है। इन का कर्मबन्ध हेतु "तत्वार्थ" आदि सूत्र ग्रन्थो में स्पष्ट रूप से वर्णन करने मे आया है। जिस जीव का जीवन उदार वृत्तिवाला, और किसी भी व्यक्ति के विषय में उस के वास्तविक गुणो के अनुमोदन में लीन होता है ऐसे जीव की आत्मा को उच्च गोत्र बध प्राप्त होता है। और इसके विपरीत जिसके जीवनमें क्षुद्रता—ओछापन, दूसरोके प्रति जलन तथा दूसरो के गुण दोषो पर छीटाकशी, आरोप तथा निन्दाकी हलकी प्रवृत्ति है, ऐसी आत्माओ को नीचगोत्रका बध होता है। जहा जन्म होता है वहा यदि सुदर सस्कारो का वातावरण होता है तो उच्च गोत्र का फलरूप होता है। और यदि सुन्दर सस्कारो के साथ साथ हिसा, असत्य चोरी, अनीति तथा याचक वृत्ति आदि के विपरीत सस्कार का वातावरण भी प्राप्त हो तो वह नीच गोत्र का फल जानना चाहिये। नीचकुल गोत्र कर्मबध द्वारा शूद्रकुल मे जन्म होने पर ऐसे मानव समुदाय के प्रति तिरस्कार भावना रखना उचित व योग्य नही। ठीक उसी प्रकार पिछले जन्म मे किये गए—विपरीत दोष-कर्मदोष के कारण उस वर्गको जो

शिक्षा मिली है अर्थात्—धर्मक्षेत्र अथवा व्यवहार क्षेत्रमे जो अधिकार उन्हे प्राप्त हुए हैं उसमे उन्हे छूट छाट देना जिससे अनधिकार चेष्टा का प्रसग खडा हो वह भी उचित नही है।

जिस प्रकार व्यावहारिक द्रष्टि से दीवाला निकाला हुआ व्यापारी जिस प्रकार उसी बाजार मे फिरसे उसी नामसे व्यापारके अधिकार नही पाता, उसी प्रकार-धर्म समाज, रीति-नीति सम्बन्धी मर्यादाओ को भग करने वाले मानव से अपनी सामाजिक-धार्मिक विपरीत नीति के कारण वे अधिकार छीनलिये जाते है। ऐसी स्थिति मे अस्पृश्यता निवारण, हरिजन प्रवेश आदि वृत्तिया किस हद तक न्याय सगत है अथवा लाभ हानिकारक है इस पर भी विचार करना आवश्यक हो जाता है।

जीवन में प्रकाश और अंधकार का द्वन्द्व युद्ध

भगवान श्री ऋषभदेव के कार्यकाल में मरिचि, प्रभु के साथ ही साथ, गाव-गाव, नगर-नगर विचरण करता था। प्रभु के निर्वाण के बाद भी प्रभु के साधुओ कें साथ ही विहार करने की प्रवृत्तिको उसने नही छोडा। ईस प्रथा को चालू रखा। इतना ही नही अपितु अपनी धर्म देशना द्वारा जिन किसी सज्जनो राजकुमारो को प्रतिबोध उत्पन्न करवाया, उन सब को पहले की तरह प्रभु के साथियो के पास भेजनेका भाव, और उन्ही का शिष्य बनाने का क्रम और शुद्ध सयम की भावना के लिये प्रेरणा देते रहना अपना कर्तव्य मानता रहा।

आत्माकी एक अमुक अवस्था ऐसी होती है जब उस अवस्था में आत्माभे पूर्ण अधकार भरा रहता है। प्रकाश को कोई छितराई समाधि किरण भी द्रष्टिगोचर नही होती। इसी प्रकार आत्मा में एक ऐसी भी अवस्था होती है जब आत्मामें सम्पूर्ण प्रकाश भरा रहता है और ऐसे समय उस में, अधकार का एक भी कण नही रहता। एक

अवस्था ऐसी भी होती है जब आत्मामे, अधकार और प्रकाश दोनो का समान रूप से स्थान होता है। मरिचि की आत्मामे इस समय ऐसी ही स्थिति विद्यमान थी। अर्थात् उस के हृदय में इस समय प्रकाश और अन्धकार का द्वन्द्व युद्ध चल रहा था।

महाराज भरत के यहा जन्म ग्रहण कर भगवान की धर्म देशना प्राप्तकर आत्मा का वैराग्य के प्रति झुकाव और इस रगमे रग-नेकी उत्कट अभिलाशा के फलस्वरुप भोगोपभोग की विपुल उपलब्ध सामग्री का त्याग कर सयम मार्ग को स्वीकार करना यह अवस्था प्रकाश की अवस्था है।

इसी मरिचि के हृदय में ग्रीष्म ऋतु में "उष्णपरिसह" का प्रसग आने पर ग्रहण किये हुए सयम के प्रति शिथिलता की भावना का उदय होना, और त्रिदडी वेषकी कल्पना करना, यह अवस्था आत्मा मे अधकार की अवस्था माननी चाहिये। सयम मार्ग में अपनी मानसिक शिथिलताका स्व-आभास, और सयम मार्ग के प्रति श्रद्धा और प्रतिवोध के इच्छुक क्षत्रिय कुमारो को प्रभुके शिष्यो के पास ही भेजना (अपना शिष्य न वनाना) इस प्रवृत्ति के कारण मरिचि के अन्तर मन मे स्थित प्रकाशका प्रतीत-भाव ही तो है।

महाराज भरत से अपना भविष्य ज्ञान हो पर तीर्थंकर पद चक्रवर्ती व वासुदेव होने का गर्व उत्पन्न होना-कुल के प्रति अहकार भावनाका उदय होना अधकार का प्रतीक है।

यह घटना केवल मरिचिके साथ ही घटित-हुई ऐसी वात नही है। कोई भी आत्मा जव अनादिकाल के अधकार मे एकाएक प्रकाश मे आती है अर्थात अनादि मिथ्याद्रष्टि आत्मा-प्रथम वार प्रकाश को प्राप्त करती है और प्रथम वार सम्यग्दर्शनको प्राप्त करती है ऐसी स्थिति में जव तक उसे "क्षपक" श्रेणी प्राप्त नही होती तव तक

उसकी आत्मा में प्रकाश और अंधकार दोनों का समान अस्तित्व स्थिति रहती है और दोनों में अन्तर द्वन्द्व चलता रहता है। जब तक आत्मा मे अप्रमत्त दशा प्राप्त नहीं होती तब तक वह "निमित्त वासी" कहलाती है। अनुकूल वातावरण मिलने पर-अर्थात् देव, गुरु, धर्म की आराधना सत्संग का श्रेय मिलते ही आत्मा मे प्रकाशकी स्थिति स्थिर हो जाती है। यदि प्रतिकुल वातावरण मिल जाय तो अंधकार का प्रसार होने लगता है।

वीतराग स्तोत्र मे कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरिने यही भावनाको भाव भरे शब्दो मे यूं कहा है –

> क्षण सक्तः क्षणं मुक्त. क्षणं क्रुद्ध. क्षणं क्षमी ।
> मोहाद्यैः क्रीडयेवाहं कारित. कपिचापलम् ॥

भावार्थ –हे भगवान! क्षण मे ही मन संसार में आसक्त हो जाता है, और दूसरे ही क्षण यह मन ससार के प्रलोभनो से मुक्त दशाको प्राप्त हो जाता है। क्षण भर मे ही मन क्रोध के आवेशमे भर जाता है और दूसरे ही क्षण यह मन क्षमा धर्मसम्पन्न हो जाता है। हे भगवन! मोह आदि मेरे अतरग शत्रुओने मेरी आत्माको बन्दर के समान चपल-चचल कर दिया है।"

आत्माको इस चचल वृत्तिके होते हुए भी एक बात तो निश्चित ही है कि जिस महान आत्मा के मनमदिर में आत्मा के प्रकाश की एक किरण भी एक बार प्रगट हो जाती है, बीच बीचमे यदि कभी अंधकार का कोई आवरण आ भी जाता है तो भी यह आत्मा अर्धपुद्गल परावर्त मे सम्पूर्ण प्रकाशमान बन कर मुक्ति मंदिरकी अधिकारिणी हो ही जाती है।

भव-३

प्रथम तीर्थंकर श्री आदीश्वर भगवान की भविष्य वाणी, जब महाराजा भरत ने मरीचिको बताया तब गर्व में आकर उन्माद नृत्य करते हुये मारिचि ।

पृष्ठ २९ देखो

मरिचि के शरीरमें वीमारी ।

एक वार मरिचि के शरीर में असातावेदनीय कर्मोदयके कारण भीषण वीमारी का प्रसग पैदा हो गया। मरिचि—इस समय भी भगवान ऋषभदेव के साधुओ के साथ विचरण करता था। उसके वीमार हो जाने के कारण उस के द्वारा अपनाए त्रिदडी स्वरुप व असयमी जीवनके कारण रूप होनेसे दूसरे साधुओ ने उसकी सेवा आदि जैसी होनी चाहिये नही की। क्योकी सयमधारी साधु सेवा चाकरी नही करता (?) ये साधु सामान्य साधु तो थे नही। भगवान ऋषभदेव के साधु थे-अल्प ससारी और मुक्तिगामी साधु थे, ऐसे गुणवन्त साधुओ के दिल में अनु-कपा दया का स्थान अनुपम था। मरिचि के लिये उन के हृदयमे भाव-दया का स्रोत था-इतना सव होते हुए भी विरतिवान-सयमी ये साधु इस असयमी-अपरिग्रहधारी-त्रिदडी मरिचि की सेवा करना अपना कर्तव्य मान कर सद्गृहस्थो द्वारा उसका उपचार करवाने लगे। प्रत्यक्ष रूपसे असयमी की सेवा करना-साधुको वर्जित है क्योकि इससे अपने सयम में शिथिलता आ जाती है। इसी लिये शास्त्रोमें कहा है—

"गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा" साधुओ को गृहस्थो की वैयावृत्य नही करनी चाहिये। ऐसी नियमावली व मर्यादाओका प्रतिपादन है।

ऐसे प्रसग मे यह विचार करना कि साधुओ के हृदयमे अनुकपा या दयाभाव नही था या उन्होने सेवा नही की-उचित नही माना जा सकता। साधु धर्म के आचार विचार सर्वथा भिन्न होते है। श्रावक धर्म के आचार विचार भिन्न होते है। श्रावक धर्म में द्रव्य दया भावदया दोनो की प्रधानता रहती हैं जवकि साधुओमें भावदया की प्रधानता रहती है-पीछे द्रव्य दया है। छ काय के जीवो के प्रति अर्थात् विश्व के सभी जीवात्माओ को अभयदान का व्रत धारण करनेवाले साधुओ के हृदय मे अनुकम्पा—दया न हो ऐसा नियम ही नही उठता।

गृहस्थाश्रम के समान आवश्यकताओं के प्रति साधु लोग ध्यान नही करते। ऐसे प्रकार के प्रश्न आजकल पूछने मे आते हैं।

परन्तु यदि श्रद्धा सम्पन्न पुण्यवान श्रावक या सद्‌गृहस्थ अपने सहधर्मियो-बन्धु बान्धवो या दूसरे मानव बन्धुओ के प्रति अपने कर्तव्य को जीवन व्यवहार की अनुकूलता रूप सहायता के प्रति जाग्रत रहें और अपना धर्म मानें-इस महान कृत्य द्वारा अपना फरज अदा करते रहें तो ऐसे प्रश्नो के उठनेका प्रश्न ही नही पैदा होगा। साधु लोग तो शास्त्रोक्त मर्यादाओ का पालन करते हुए उत्तम श्रावको को अपने कर्तव्यका आभास करवाते है, मार्गदर्शन देते है, इस प्रकार के मार्गदर्शन द्वारा यदि श्रावक चलें तो फिर सभी आचार विचार व्यवस्थित रूप से चलते रहेंगे।

मरिचि के हृदयमें—बीमारी के कारण—शिष्य बनानेकी इच्छा

मरिचि तो बीमार था। "साधु लोग उसकी सेवा नही करते क्योंकि वह असयमी है इस कारण उसके प्रति उनमें भावना अच्छी नही" एसा विचार घर कर गया। वह मन ही मन सोचने लगा कि— "पराए तो पराए ही होते है, अपना जो होता है वही अपना है, आज तक मैं इन्ही साधुओके साथ रहा। इन मे कितनेक तो ऐसे है जो मेरे ही उपदेश और मार्गदर्शन से ही इस सयम मार्ग के अनुचर बने है। मैं आजतक सभी को इन्ही की सेवा में भेजता रहा हूँ। परन्तु आज मेरी इस बीमारी में इन में से कोई भी—इस बीमारीकालमें मेरे उपयोग मे नही आता। परन्तु इस में इन साधुओ का कोई दोष नही है। ये मेरी सहायता में भावना रूप से बराबर सहायता कर रहे है। यह दोष सम्पूर्ण रूप से मेरा ही है। क्योंकि मैंने यदि सयममार्ग को न छोडा होता तो अवश्य ही मेरा सम्पूर्ण पने से वैयावृत्य करते, परन्तु मैंने असयम मार्ग का अनुसरण किया। ये लोग सयम व्रतधारी है और मैं

असयमी पथभ्रष्ट हूँ। भला इन के द्वारा अपनी सेवा की कल्पना भी कैसी हो ?

"अव भविष्य में मैं मेरे पास आने वाले मेरे धर्मज्ञान द्वारा प्रतिवोध प्राप्त करने के इच्छुक क्षत्रिय कुमारो को अपना ही शिष्य वनाऊगा" ।

ऐसा विचार मरिचि के मन में उदय हुआ। इसका मुख्य कारण उस मे वीमारी का था। थोडे दिनो में वह उपचार द्वारा ठीक हो गया तो फिर भी उसने वही पूर्ववत् अपना क्रम चालू रखा। अपना कोई भी शिष्य नही वनाया। वह प्रतिवोध के इच्छुको को पूर्ववत् उसी प्रकार साधुओ के पास भेजता रहा। और उन्ही साधुओ के साथ विचरता रहा।

मरिचि के पास कपिलका आगमन :

एक समय कपिल नामका कोई राजकुमार मरिचि के पास आया। मरिचि ने पहले के समान शुद्ध सयममार्ग का उपदेश दिया। इस प्रवचन को सुनकर कपिल के मन मे प्रतिवोध पाने की और सयम व्रत को ग्रहण करने की इच्छा जागृत हुई। तो मरिचिने पूर्ववत् उसे साधुओ के पास जाने की प्रार्थना की। आजतक कितनी ही भूखी आत्माए उसके पास आई थी और उन की धर्मज्ञान की क्षुधाको उसने शान्त किया था अपने सदोपदेश द्वारा। इसी प्रकार कपिल को भी मरिचि ने प्रेरणा दी। परन्तु यह अतिम-राजकुमार कपिल किसी भी प्रकार से मरिचि का यह आग्रह मानने को तैयार न था। इस कारण से कपिल ने सीधा प्रश्न किया—"मुझे प्रभु के साधुओ के पास आप क्यो भेज रहे है ?"

यह सुनकर मरिचि ने उत्तर दिया— "ये साधु त्रिदन्डी रहित

है, मै वैसा नही हू। साधु-मस्तक पर छत्र और पावो मे पादुका धारण नही करते, मै तो छत्र और पादुका धारी हूँ"।

इस प्रकार अपने स्वरूप कर्म और धर्म का वर्णन उसने कपिल के समक्ष किया।

अभी तक मरिचि के हृदय मे यह सब वर्णन करते हुए-यह ही भावना थी कि "मेरी अपनी आत्म निर्बलता के कारण ही-मूल धर्म के सयम रूपी धर्म का पालन करने मे असमर्थ हूँ-अशक्य है-फिर मै दूसरी किसी आत्मा के प्रतिबोध पाने मे क्यो बाधा बनू।"

ऐसे विचार से यह सिद्ध होता है कि-उस के हृदय मे सदा ही शुद्ध प्रकाश विद्यमान था। बीमारी के प्रसग मे उसके अतर मे जो शिष्य बनाने की इच्छा पैदा हुई वही निरोगी होने के उपरान्त-समाप्त-हो गई, यही कारण था कि वह अपने पास आए हुए मुमुक्षु-प्राणियोको प्रतिबोध के लिये दूसरे साधुओ के पास भेजता रहता था। इसी सदर्भमे उसने कपिल को यह उच्च मत्रणा दी।

शुद्ध सयम मार्गका आचार विचार तथा अपने त्रिदडी मतका आचार विचार का स्पष्टीकरण उसने कपिल को किया उसका आशय भी पवित्र ही था। बाद मे कपिल को यह कहने का मौका नही देना चाहता था कि मुझे पहले ही तुमने क्यो नही बताया। मरिचि के हृदयमे शुद्ध धर्म मार्ग की भावना भरी हुई थी। शुद्ध श्रद्धाभाव का प्रकाश विद्यमान था, सो यह प्रसग भी काफी विचारणीय है।

मरिचिका सूत्र विरुद्ध-प्रवचन:

यहा तक तो मरिचि के हृदय में मनमदिर में श्रद्धा का दीपक ज्वलित था-परन्तु कपिल के समक्ष अपना मत व्यक्त करने के बाद कपिल ने फिर प्रश्न किया-"आप जो प्रेरणा मुझे दे रहे है वह बहुत ठीक है परन्तु मेरी शका कुछ और है, इन साधुओके सयम मार्ग में ही

धर्म है, और आपके इस त्रिदडी मार्ग मे धर्म नही ?" कपिलने जब यह प्रश्न किया तो मरिचि असमजस मे पड गया। वह सोचने लगा—"क्या उत्तर दू ? शुद्ध धर्म का स्थान केवल प्रभु के साधुओ के धर्म मार्गमे ही है—और मेरे त्रिदडी रूप मे-मोक्ष का कारण भूत धर्म नही यदि मैं ऐसा कहता हूँ तो मेरी क्या स्थिति रहेगी ?" बेशक ये विचार श्रद्धावश थे परन्तु असमजस मे स्वअभिमान में उस के अत करण मे दीप्त प्रकाश पुज काप उठा। विचार करने पर यह दीपक बुझ गया और अधकार भरने लगा। और मरिचि के मुख से ये शब्द निकले—

"कपिला इत्यपि इहयपि"

"हे कपिल ! साधु के मार्ग मे भी धर्म है और मेरे मार्ग मे भी धर्म है।"

मानसिक—असतुलन के कारण मरिचि मे शिथिलता :

किसी भी श्रद्धा सपन्न अथवा धर्मपरायण आत्मा के समक्ष जब तक कोइ कसौटी का प्रसग नही आता तब तक वह अपनी आस्था और श्रद्धा मे अडिग रहती है। और उसे उस से गिरनेका प्रसग पैदा नही होता। लेकिन जैसे ही कसौटी का समय आता है तभी उस की श्रद्धा और भावनाओ की परीक्षा होती है। ऐसे समय मे वह अपने मार्ग पर असमजस में डूब जाता है और विचलित होने लगता है। शरीरकी कसौटी में से पार उतर जाना तो सरल होता है मगर मानसिक अवस्था की कसौटी में से निकलना अत्यन्त कठिन होता है।

"प्रभु के साधुओ मे ही धर्म है, और तुम्हारे पास क्या धर्म नही है ? यह प्रश्न मरिचि के लिये कसौटी रूप बन गया। उसके मन मे स्वाभिमान और मानहानि की समस्या खडी हो गई। श्रद्धा के बलसे मानहानि का भय विजय प्राप्त कर गया। प्रकाश के स्थान पर अन्धकार का प्रवेश हो गया। और भावी अनिष्ट का विचार न करके उसने कपिल को कह ही दिया "साधुओ के पास ही जिनधर्म है—वही धर्म मेरे

भी धर्म मे है" इस सूत्र विरुद्ध वाक्य का उच्चारण उसने किया । और इस कथन मार्ग से ही मरिचि का दीर्घ संसार उपार्जन कर्मबंध हुआ ।

राजपुत्र कपिल—बहुलकर्मा-धर्म पराङमुख जीवात्मा था, इस लिये उसनेन्मरिचि से दीक्षा ग्रहण की । इस प्रकार भगवान ऋषभदेव की परंपरा में कपिल के द्वारा प्रथम मिथ्यादर्शन का प्रारंभ हुआ और सांख्य दर्शन की उत्पत्ति हुई ।

मरिचि का स्वर्गगमन :

शास्त्रो में सूत्र विरुद्ध कथन को महानतम पाप कर्म माना गया है । आनन्दघनजी जैसे महापुरुषो ने भी कहा है "जगसूत्र जैसा कोई धर्म नही है, और सूत्रके विरुद्ध भाषण जैसा कोई पाप नही है । सूत्र विरुद्ध प्रवृत्ति करने वाला अपनी आत्मा का ही अहित करता है । सूत्र विरुद्ध कथन का मुख्य कारण 'चरित्र मोह' का उदय होना होता है । इस प्रकार "दर्शन मोह", "मिथ्यात्व मोह" का उदय होता है । आजकल के विषम कालमें सूत्र विरुद्ध कथन की प्रवृत्ति अनजाने मे भी न हो इसके लिये मुमुक्षु जीवो को बहुत संयम और संतोष तथा ध्यान रखना चाहिये । यह एक शुद्ध धर्मका प्रारुप है । धर्म के सूत्रो के विरुद्ध आचरण एक महान अधर्म है ।

अपने जीवन में घटित दूषणो की आलोचना करते हुए मरिचि अपनी आयु पूर्ण कर स्वर्गलोक का अधिकारी हुआ ।

४

महानुभाव मरिचि के वाद के भवों की विचारणा

(मरिचि की आत्माका समय–अर्थात् आत्मकल्याण की अनुकूलता का काल)

मरिचि के भव में आयुष्य पूर्ण कर भगवान महावीर की आत्मा चौथे भवमे वैमानिक देवलोक मे पचम ब्रह्मलोक मे उत्पन्न हुए। मरिचि की मृत्यु का समय लगभग भगवान ऋषभदेव के निर्वाण कालके आसपास का समय माना जाता है।

आज के कालकी अपेक्षा वह समय आत्मा के कल्याण का अत्यन्त अनुकूल समय था। काल दशा के मुताविक उस समय के मानवीयो में कषायो की कमी थी। अनीति, असत्य अथवा हिंसा के प्रति लोग वहुत ही विचारवान थे। उन दिनो मनुष्यो में स्वभावकी सरलता-भद्रिकता आदि गुण पूरी तरह विद्यमान थे। इस प्रकार के अनुकूल सजोगोमें मरिचि का जन्म हुआ था, फिर उन्होने प्रभु ऋषभदेवजी के पास दीक्षा ली-चारित्र ग्रहण किया, ग्यारह अगोका अध्ययन किया और उन्ही की छत्रछाया मे सयम धर्म का पालन भी किया। ऐसा सुयोग उन्हे प्राप्त हुआ। भगवान के निर्वाण के उपरान्त अजितनाथ भगवान ने लगभग पचास लाख कोटि सागरोपम जितने समय अर्थात् असख्य वर्ष वीत जाने के वाद धर्मशासन की स्थापना की, तव तक भगवान ऋषभदेव का धर्मशासन ही विद्यमान था। उस धर्मशासन के अवलम्वन से

असख्य आत्माए मुक्ति पद को प्राप्त करने मे समर्थ हुई। और असख्य आत्माए देव रूपमे अवतरित हुई।

मरिचि–पंचमलोकमें क्यो हुआ

मरिचि तो स्वय में भगवान द्वारा दीक्षित हुआ था-और कितने ही वर्षों तक प्रथम तीर्थंकर की छत्रछाया मे उसने चारित्र की आराधना की थी। ऐसी स्थिति मे उस की आत्मा को तो मुक्ति की अधिकारिणी होना चाहिये था? परतु वैसा न होकर वह पाचवे देवलोकमे देव तरीके से उत्पन्न हुआ इस का मुख्य कारण उस की धर्म सत्ता की प्रबलता थी। द्रव्य-क्षेत्र-काल आदि निमित्त कारण कितने भी प्रबल हो- परतु यदि क्षायिक भाव स्वरूप उपादान कारण अनुकूल नही होते तब तक आत्मा मुक्ति की अधिकारिणी नही बनती। उष्ण परिषह के प्रसगमे शरीरकी ममताके कारण से शुद्ध सयम धर्मका पालन छोड कर उसका परित्याग कर परिव्राजक त्रिदडिक वेश को धारण करना-फिर भरत महाराज के मुख से-अपने भाविकाल के तीर्थंकर पद-चक्रवर्ती व वासुदेव होने की भविष्यवाणी जानकर-त्रिकरण योग से कुलमद करने के द्वारा अहकार को प्राप्त होना, और फिर कपिल के समक्ष-सत्य रूप मोक्ष प्राप्ति के कारण के विरुद्ध अपना मत स्थिर करना, ये सब कुछ ऐसे अनर्थकारी परिस्थितियो के कारण बने, और मोहकी प्रबलता-साक्षात्कार हुई।

जीवन विशुद्धि के लिये-आलोचना तथा प्रतिक्रमण आदि की आवश्यकता।

आत्म कल्याण का पवित्र मार्ग मिलने पर भी जीवन में मोहकी प्रबलता के कारण वह आत्मा आत्मकल्याण रूपी-मार्ग से कितनी ही बार (मोहके कारण) भटक भी जाता है। इस मे कोई आश्चर्य की बात नही है। पवित्र आत्म कल्याणका मार्ग यू भी मिलना अत्यन्त कठिन होता है। फिर उसी मार्ग को पाकर उस में स्थिरता बनाए रखना और

भी कठीन काम है। यह उत्तम स्थिति तो किसी किसी तद्भव-मुक्तिगामी अथवा एकावतारी को ही प्राप्त होती है। दूसरी आत्माए तो इस प्रकार के चारित्रको ग्रहण कर के भी प्रमत्त दशा के कारण ऊपर नीचे एक भव नही अनेक भवो तक यू ही चक्कर मे चलती रहती है। इस प्रकार एक क वाद एक भवोका क्रम चलने के वाद एक भव ऐसा आता है। जव इस उत्तम आत्माको अप्रमत्त भावना के कारण केवल आरोह (ऊपर की ओर गति) की गति व अनुकूलता प्राप्त हो जाती है, और अन्तमे निर्वाण पदका कारण वन जाती है।

सम्यग् दर्शन आदि किसी भी गुण के प्रकट होने के वाद पहले से ही दो गुण अतिचार के विना ही होते है। क्षयोपरी भावना के गुण मे तो "अतिक्रम" "व्यतिक्रम" "अतिचार" आदि का सभव अवश्य रहता है। विलकुल निरतिचायण तो क्षायिक भाव से तभी प्रकट होता है जव सम्यग् दर्शन आदि गुणो की प्राप्ति हो जाती है। इस मे केवल विशेपता इतनी है कि व्रत आदि ग्रहण करने के वाद ईन व्रतोको अतिचार आदि न लगे। इस भावना द्वारा व्रत लेनें वाला सदा सावधान रहता है। प्रतिकूल वातावरण से दूर रह कर अखड रूप से गुरुकुलवास करने हुए भी प्रमाद आलस्य के कारण अतिचार आदि लगे तो उसकी आलोचना तो कर ही लेनी चाहिये-इस से नही चूकना चाहियें।

आत्म निरीक्षण :

प्रभु के पवित्र शासनमे प्रात व सायकाल पाक्षिक व चातुर्मासिक अने वार्षिक (सवत्सरी) "प्रतिक्रमण" की जो व्यवस्था है-उसका मुख्य उद्देश्य जीवनमें लगे हुए अतिचारो की आलोचना करना अथवा पापाचरण मे पश्चाताप द्वारा निवारण ही है। "आलोचना" अथवा "प्रतिक्रमण"- एक आत्मचिन्तन के सावना रूप है। यदि यह आलोचना व चिन्तन स्पष्ट रूप से जागृतावस्था मे किये जाए तो जीवनके शोधन

मे एक साधन रूप महान कल्याणकारी बन सकते हैं। विशुद्ध जीवन व्यापार मे मानव स्खलित न हो, पथभ्रष्ट न हो, ऐसा प्रयत्न करना बेशक कठिन कार्य तो है। परन्तु अपनी आत्मामे आई दुर्वलता तथा प्रतिकुल वातावरण के कारण यदि कभी स्खलना हो भी जाय तो उसमें चिन्ता नही करनी चाहिये, अपितु यह विचार रखना चाहिये कि भूल तो हो गई, अब उस भूल का कारण क्या था? भूल का ज्ञान और कारण जान लेने के बाद उस के लिये प्रायश्चित रूप-प्रतिक्रमण आदि द्वारा आलोचना-क्षमायाचना द्वारा उस का प्रक्षालन भी तो सभव है। इससे भविष्यमे वह भूल न हो और जीवन विशुद्ध बने। धर्म की भूखी आत्मा के लिये आत्मकल्याणका जो मार्ग महापुरुषोने बताया है उसका पालन करना चाहिये।

जीवन मे हमेशा यदि ऊपर प्रकार से आत्म निरीक्षण न हो सके या शक्य न हो, तो पाक्षिक रूप मे, चार चार महीने अथवा वार्षिक रूप से भी आत्म कल्याण के लिये आत्म निरीक्षण आवश्यक हो जाता है। मृत्यु से पूर्व भी तो अपने जीवन मे किये हुए अनाचारो का निरीक्षण और प्रायश्चित मानव कर ही सकता है। व्रतो को ग्रहण कर लेने के पश्चात भी यदि अतिचार आदि लग जाए तो भी अतर्आत्मा की शुद्धि के लिये अतिम समय मे भी आलोचना कर लेने से प्रायश्चित कर लेने से यह आत्मा आराधक हो जाती है। यदि कोई ग्रहण किये हुए व्रतो पर लगे अतिचार आदि अथवा व्रतो का भग हुए कारणोका प्रायश्चित नही करता तो ऐसी आत्माको विराधक कहा जाता है।

मरिचि ने अतिम समय मे आलोचना नही की।
प्रायश्चित नही किया।

मरिचि के बारे मे यही विराधना का प्रसग आया। परिव्राजक वेश को अगीकार करना, कुल का अभिमान करना, तथा उत्सूत्रप्ररूपणा

अर्थात् सूत्रो के विरुद्ध आचरण करना-आदि के लिये यदि मरिचिने आयुष्य पूर्ण होने पूर्व अपने कृत्यो के लिये आलोचना कर ली होती और शुद्ध अंत.करण द्वारा उसका प्रायश्चित कर लिया होता, तो वह भी आराधक आत्मा वन जाता। परन्तु उसमे मोह की अधिकता थी, इसी कारण से चारित्र ग्रहण कर लेने के उपरान्त उसने सयम और श्रद्धा दोनो से भ्रष्टता-अपना ली, और उसकी त्रिकरणयोग प्रवृत्ति हो गई। शुद्ध मार्ग से हटकर परिव्राजक रूप धारण कर लिया। यह उसकी सयम भ्रष्टता भी कही जा सकती है। फिर कपिल के समक्ष उसने जो सूत्रोके विरुद्ध वात की उससे श्रद्धा भ्रष्टता भी आ गई। इस प्रकार दोनो तरह से वह शोचनीय परिस्थितिमें फस गया। अतिम समयमे अर्थात् आयु पूर्ण होनेसे पहले विना किसी आलोचना अथवा अपने किये का प्रायश्चित किये विना वह स्वर्गलोक को प्राप्त हुआ। इस प्रकार वह पचम देवलोक में देव हुआ। अपनी द्रष्टि में यह पचम देवलोक महानता का प्रतीक द्रष्टिगोचर होता है परन्तु मरिचि के समयकाल को यदि विचारा जाय तो वह अपेक्षाका काफी नीचा प्रतीत होता है।

अतरग विकास के ऊपर स्थान की उच्चता का आधार है

मान लीजिये-एक वार कि ब्रह्मलोकका स्थान काफी ऊचा है। तो यह भी मानना होगा कि वाह्य सुख रूपमे वह स्थान महानताका कारण होगा। परन्तु जहा तक आध्यात्मिक सुखका प्रश्न है वह स्थान उतनी उच्चता नही रखता। एक मिथ्याद्रष्टि आत्मा, सासारिक वाह्य कष्टो के कारण पचम देवलोक तो क्या-इस से भी ऊचे ग्रैवेयक नामक देवस्थान में देव रूपमे उत्पन्न हो, और एक दूसरी आत्मा, जप, तप, व्रतादि आराधना करके भी किसी कारण वश (अल्पता—अथवा अभाव) सम्यग् दर्शन जन्य श्रद्धा के कारण सौधर्म देवलोक मे अर्थात् प्रथम देवलोक मे उत्पन्न हो, इसका अर्थ यह नही है कि प्रथम देवलोक नीचा है और नवमें देवलोक में अधिक सुख है। ऐसी दशामे वाह्य सुखो के कारण

वेशक नव मे देवलोक मे जाने वाली मिथ्यादृष्टि आत्मा ऊची नही गीनी जा सकती, परन्तु अतरग आध्यात्मिक सुख के साधनो की अपेक्षा प्रथम देवलोक में उत्पन्न होने वाला सम्यग् द्रष्टिका स्थान तो उच्च कक्षा का ही माना जायगा । नवमे देवलोक मे उत्पन्न जीव एकत्रीस सागरोपम पर्यन्त पौद्गलिक सुखो को भोगता है । परन्तु आयु पूर्ण होने पर इस आत्मा को मिथ्यादर्शन के प्रभाव से चिरकाल तक दुरत दुःख भोग तो चालू ही रहेगा । सौधर्म देवलोक मे पौद्गलिक वाह्य सुख नवमे देवलोक की अपेक्षा कम ही होते है परन्तु आयुष्य पूर्ण होने के वाद वह मनुष्यादि भवो मे जन्म ग्रहण कर सम्यग् दर्शन के प्रभाव से अल्प समय मे ही वह आत्मा अनन्त सुखो को भोगने वाली वन जाती है । वाह्य विकास या सुख क्षणिक सुख होते है और अतरग का विकास यह चिरस्थायी सुखका कारण होता है।

प्रकाश में से अधकार मे आने के वाद, पुनः प्रकाश प्राप्त करना कठिन होता है

मरिचि के लिये यह देवलोक स्थान वाह्य सुखका साधन था । परिव्राजक वेश स्वीकार करने के वाद श्रद्धा की जो ज्योति उस की आत्मा मे विद्यमान थी, वह भी कपिल के समक्ष उत्सूत्रप्ररूपणा के कारण अस्त हो गई । देवलोक मे भी इस आत्मा के अन्तराल मे वही अधकार विराजमान रहा इतना ही नही, मरिचिके भव मे प्राप्त यह अन्धकार उसके वाद के दस ग्यारह भवो तक उसी तरह विद्यमान रहा-छटा नही । अधकार से प्रकाश मे आना जिस प्रकार उतना सरल नही है उसी प्रकार प्रकट हुआ प्रकाश-बुझ जाने के वाद फिर से प्राप्त करना और भी कठिन होता है । इस मे भी यदि प्रवृत्तिया विपरीत हो-आवेश अथवा रस से भरी हुई हो तो ऐसी आत्मा को सम्यग्दर्शन का निर्मल प्रकाश फिर से प्राप्त करने मे काफी लम्बा समय लगता है ।

आचार भ्रष्टता से— उत्सूत्र कथन बडा पाप है

एक दूसरी बात इस प्रसगमे ध्यान देने योग्य है । किसी भी जीव के जीवन में मोह के उदय से आचार भ्रष्टता का पाप हो जाता है। बेशक यह उस आत्मा के लिये हितकारक नही है। फिर भी इस आचार भ्रष्टता से उसी व्यक्ति विशेष का अहित होता है। परन्तु यह आचार भ्रष्टता की परपरा लम्बे समय तक चलती नही रहती । परन्तु सूत्रो के विरुद्ध ("उत्सूत्र प्ररूपणा") पाप की क्रिया तो हजारो-लाखो वर्षो तक अविच्छिन्न परपरा बन जाती है। इस विरुद्ध मार्गकी असख्य वर्षो तक चलनेवाली अनिष्ट परपरा का मूल कारण तो वही व्यवित होता है जिससे यह परपरा चली-उस के फलका वही भोगी होता है। मरिचिने कपिल के समक्ष उत्सूत्रप्ररूपणा की, और आलोचना तथा प्रायश्चित किये बिना ही आयुष्य पूर्ण हुआ और स्वर्गलोक मे उत्पन्न हुआ। परन्तु उसके बाद कपिल ने अपने उपदेश द्वारा अनेक शिष्य समुदाय को तैयार किया और उन सब के द्वारा अपने मत-आचारोका प्रचार किया, और अपने मत की पुष्टि की। वह कपिल भी मर कर पचम देवलोक में उत्पन्न हुआ। वहा से भी च्युत होकर उसने अवधि विभग ज्ञान के बल द्वारा पूर्व जन्म का ज्ञान होने के कारण अपने फैलाए सांख्य मत का प्रचार करने के लिये, अपनी दिव्य शक्ति का उपयोग किया। मताग्रह का पाप इतना भयकर पाप है कि मताग्रही आत्मा का अपना अहित तो होता ही है परन्तु साथ साथ असख्य वर्षों तक-दूसरी आत्माओ को भी मताग्रह के कारण दुर्गति का अधिकारी बनना पडता है ।

भगवान महावीर के पाचवे से पंद्रहवे भवका सारांश

देवलोक (ब्रह्मलोक) की आयु पूर्ण करने के बाद पाचवे भवमे महावीर स्वामी की आत्माने कोल्लाक नामक सन्निवेश में कौशिक नामक ब्राह्मण के रूपमें मनुष्य जीवन प्राप्त किया। पूर्वजन्म में विराधक भाव

के कारण जीवन मे विषयो के प्रति आसक्ति, धन लोलुपता, और पापाचरण आदि निर्ध्वंसक परिणाम और दुर्गुणो का जीवन प्राप्त होता है। इस भव मे कौशीक की आयु अस्सी लाख पूर्व की है, आयु का अधिक भाग ऊपर कहे रूपमें दुराचार में व्यतीत हुआ-अपने आयु के अंतिम दिनो मे यह कौशिक ब्राह्मण त्रिदडीपन स्वीकार करता है, इस प्रकार जीवन का अधिक भाग अनाचार में व्यतीत होने के कारण ब्राह्मण वेष मे मरकर यह आत्माने कितने ही भव पशु-पक्षी आदिके रूपमें व्यतीत किये। सत्ताईस भवो की गिनती में इन भवो की कोई गिनती नही है। अब इन भवो मे श्रमणद्वारा-अकामनिर्जरा योग के कारण अशुभ कर्म हलका करने के लिये छठ्ठे भवमें फिर मनुष्य जन्म प्राप्त किया।

थूणा नगर मे ब्राह्मण कुल में उत्पत्ति हुई-पुष्पमित्र नाम पडा। वहतर लाख पूर्वकी आयु और आयु के अतिम भागमे त्रिदडी धारी साधु रूप। अन्त में आयुष्य पूर्ण कर सातवे भवमें सौधर्म देवलोक मे मध्यम आयुवाला देवरूप मे-मरिचि अथवा भगवान महावीर का जन्म हुआ। इस के वाद आठवे भव मे चैत्य सन्निवेश नामक स्थान पर अग्निद्योत नाम के ब्राह्मण रूपमें उन का जन्म हुआ। चौसठ लाख पूर्व की आयु, और अन्त में वही त्रिदडी रूप। नवमें भव मे ईशान देवलोक में मध्यम आयुष्यवाला देव, दशमें भवमे मन्दर शन्निवेश नामक स्थान में अग्निभूति ब्राह्मण स्वरूप जीवन-और छप्पन लाख पूर्व की आयु-आयुष्य के अन्त से पूर्व त्रिदडी रूप। ग्यारहवें भव मे सनत्कुमार देवलोक मे मध्यम आयु वाला देव रूप। वारहवे भव मे श्वेताम्बिका नामक नगरी में भारद्वाज नामक ब्राह्मण रूप-चव्वालीस लाख पूर्व की आयु त्रिदडी मत स्वीकार। तेरहवे भव में—चतुर्थ महेन्द्र देवलोक मे मध्यम आयुस्थितिवाला देव रूप, चौदहवें भवमे राजगृह नगरी मे स्थावर नाम का ब्राह्मण रूप-चौतीस लाख वर्ष पूर्व आयु और अन्त समय त्रिदडी वेश धारण। पन्द्रहवें भव मे पचम ब्रह्म देवलोकमें मध्यम आयुवाला देव

९५मे भगवान महावीर का जीव शरीर धारण किया। इस ब्रह्मलोक से आयु पूर्ण कर सोलहवें भवमे राजगृह् नगरी में विशाखनदी राजा के छोटे भाई विशाखभूति युवराज की रानी धारिणी की कुक्षिका मे विश्वभूति नामक पुत्र का जन्म लिया।

एक जन्म मे की भूल का अनेक भवो तक परिणाम—शिक्षा

मरिचिके भवमें किया कुलमद (अहकार) के कारण बधे नीचगोत्र कर्म के कारण पद्रहवे भव तक जब जब भगवानकी आत्मा ने मनुष्य जन्म लिया सभी बार भिक्षावृत्ति द्वारा जीवन पावन करने वाले ब्राह्मण कुल मे ही जन्म पाया सदा ही मिथ्याद्रष्टि त्रिदडी वेष को स्वीकार किया और "उन्मार्गदेशनाजन्य दर्शन मोहनीय" कर्म के कारण असख्य वर्षों तक इस प्रकार भगवान महावीर की वह आत्मा सम्यग्दर्शन और उस के साधन रूप, सुदेव-सुगुरु-सुधर्म मे वचित रही। इन मनुष्य शरीर को प्राप्त कर के भी मोक्ष प्राप्ति के साधन स्वरूप आचार विचारो को न पाकर, सदा ही प्रतिबधक रूप त्रिदडीपना स्वीकार करती रही। इस प्रकार धर्म की आराधना थोडे प्रमाण में हो या अधिक प्रमाण में, इस से आत्मा का अहित नही होता। परन्तु शुद्ध धर्म मार्ग से विपरीत आचरण करने मे श्रद्धा और उन्मार्गदेशना के आवेश भरे-जीवन को प्राप्त होने पर मरिचि की भ्रान्ति असख्य काल तक आत्म कल्याण के अनुकूल साधनो से आत्माको वचित रहना पडता है।

इस प्रकार भगवान महावीर के सत्ताइस स्थूल भवो में से पन्द्रह भवो और उनके जीवन प्रसगो का सक्षिप्त विवेचन यहा पूर्ण होता है।

॥ श्रमण भगवान महावीर प्रभुका सोलहवाँ भव ॥

" विश्वभूति मुनिराज "

चार गति का स्वरुप

भगवान महावीर की आत्मा—पंद्रहवे भवमे पचम ब्रह्मदेव-लोक मे मध्यम स्थितिवाले देवरुप मे उत्पन्न हुई थी। यह बात आगे लिखी जा चुकी है। देवलोक मे सामान्य रुप से केवल पुण्य प्रकृति वाला जीव ही उत्पन्न होता है। शास्त्रो मे जीव की चार गतियो का वर्णन है। नारकी-तीर्यंच-मनुष्य-देव, इस प्रकार सभी सासारी जीवों का इन चार गतियो मे समावेश हो जाता है। पापकर्म अथवा अशुभ कर्म के तीव्र दुःख स्वरूप-उन कर्मो के योग्य स्थान का नाम-गति नरक है।

पुण्य कर्म अथवा शुभ कर्मो का विशिष्ट भौतिक सुख रुप भोगने के स्थानको देवगति के नाम से पुकारा जाता है।

अधिक अशमें पाप ओर अल्प अशमे पुण्य के कर्मफलो को भोगने की गतिको तिर्यंचगति कहते है।

अल्पाधिक रुप मे पुण्य अथवा पाप, या समान रुप से दोनो का कर्मफल भोगने के गतिमान को मनुष्य योनि—गति के नामसे जाना जाता है।

पुण्य और पाप के भी विभाग है, उनमे तीव्रता मदता के कारण फल रुप अनेक प्रति विभाग कहे गए है। हर मानवमे मनुष्यत्व तो समान रुप से होता है परन्तु सुख और दुख की परिस्थितिमे यह समानता—समान नही रहती उस का मुख्य कारण पुण्य—पुण्यमे पाप—पापमें भिन्नता तथा अन्तर होता है। प्रत्येक जीवकी प्रवृत्ति—प्रकृति—एक जेसी नही होती, वह भिन्न भिन्न होती है। इस लिये शुभ अथवा अशुभ कर्म मे, और इसके फल स्वरुप में सुख दुख मे भी भिन्नता आ जाती है। स्वर्गलोक अथवा देवलोक में रहते सभी देवगण सामान्य रूप से पुण्य प्रकृति वाले होते है। फिर भी उन मे पुण्य—पुण्य में अन्तर के कारण स्वरूप उन दोनो मे भी अनेक प्रकार का अन्तर होता है। इसी अन्तर के कारण भुवनपति-व्यतर-ज्योतिपी-या वैमानिक देवो का वर्गीकरण और उनमे भी कई प्रतिमान होते है। चारो विभागो में देवताओ का स्थान ऊंचा माना जाता है। वैमानिक निकाय में भी बारह देवलोक, नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर इस प्रकार के उत्तरोत्तर उच्च उच्च कोटि के स्थान कहे गए है। श्रमण भगवान महावीर प्रभु की आत्मा वैमानिक निकाय मे बारह देवलोक मेँ से पचम ब्रह्मदेवलोक मे उत्पन्न हुई थी।

सोलहवे भव में विश्वभूति राजकुमार.

पचम देवलोक मे उत्पन्न होने के बाद निश्चित आयु पूर्णकर सम्पूर्णपने से सुख भोग समाप्त कर भगवान की आत्मा सोलहवे भव मे भरत क्षेत्र के राजगृह नगर मे विश्वनन्दी राजा के छोटे भाई विशाखभूति युवराज की धारिणी नामकी रानी की कोख से, पुत्र रूप में विश्वभूति नामक राजकुमार के रुप में अवतरित हुई।

मरिचि के भव के पीछे चार भवो मे एक के बाद एक अन्तर से आत्मा ने मनुष्य लोक में जन्म लिया-परन्तु इन सभी मनुष्य भवो

मे (पहले कहे अनुसार) ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर अन्तमे त्रिदडी रूप का वर्णन ही है। सोलहवे भव मे इस क्रम का पलटा होता है। भिक्षा वृत्ति प्रधान ब्राह्मण कुल के स्थान पर प्रभु की आत्मा क्षत्रिय और उस में भी राजकुल मे जन्म प्राप्त करती है।

कर्मोदय में समानता

मरिचि के भव मे उपार्जन किया हुआ, और उसके वाद पुष्ट हुए हुए नीच गोत्र कर्म भोग कर, अथवा क्षीण हो जाने के वाद भगवान की आत्मा फिर राजकुल मे उत्पन्न होती है—ऐसा मानना ही जरूरी नही है। परन्तु कर्म के वध में जिस प्रकार "सान्तरवध" "निरन्तर वध" का जो विभाग है उसके प्रमाण से कर्म के उदय में भी "सान्तर उदय" "निरन्तर उदय" (ध्रुवोदय—अध्रुवोदय) ऐसे दो विभाग है। उस में भी "परावर्तमान कर्मवृत्तिया" तो अवश्य ही सान्तर उदयवाली ही होती है। **साता वेदनीय, असातावेदनीय, उच्च गोत्र नीच गोत्र,** आदि प्रवृत्तिया परावर्तमान प्रवृत्तिया कहलाती है। **साता—असाता,** दोनो परस्पर विरोधी है—इसी प्रकार उच्च—नीच गोत्र भी परस्पर विरोधी है। परस्पर विरोधी स्वभाववाली कर्मप्रवृत्तिया अवश्य ही परावर्तमान होती है। इन प्रकृतियो का एक साथ तो वध होता नही है। इसी प्रकार उदय भी एक साथ नही होता।

साता वेदनी अथवा उच्च गोत्र वध अथवा उदय जव शुरु होता है, उस समय असाता वेदनी तथा नीच गोत्र का वध या उदय नही होता। इस कारण से नीच गोत्र यह सान्तर उदयवाला अर्थात् अध्रुवोदयी कहलाता है। मरिचिके भवसे पन्द्रह भव तक जव जव मनुष्य लोकमे भिक्षावृत्ति प्रधान ब्राह्मण कुलमें प्रभुकी आत्मा का जन्म हुआ तव—नीच गोत्र का उदय हुआ। परन्तु बीच बीच में

देवलोक मे जव-देव रूप हो उनकी आत्माने जन्म लिया तव-नीच गोत्र के स्थानपर उच्च गोत्र का उदय मानना सुसगत है। इस प्रकार सोलहवे भवमें विश्वभूति के भवमे आने पर भी उच्चगोत्र वन्ध समझना चाहिये। साथ ही साथ यह भी विचार रखना होगा कि इस की सत्तामें नीच गोत्र भी वैठा है।

विश्वभूति की उद्यानक्रीडा और युद्ध प्रयाण

विश्वभूति ने जव अनुक्रमसे यौवनावस्थामें प्रवेश किया, योग्य कन्या के साथ विश्वभूति का विवाह कर दिया गया। एक दिन विश्वभूति अपनी यौवन सम्पन्ना-पत्नी व दासियो के साथ राजगृह नगर के वाहर स्थित-पुष्पकरडक उद्यान में जलविहार करने गया। अव उस के पीछे पीछे-उसका चाचा का पुत्र-विश्वनन्दीका पुत्र विशाखनन्दी भी जलक्रीडा की इच्छा से-उसी उद्यान में आया। ऐसे समय उसे मालूम पडा कि विश्वभूति पहले से ही-उद्यानमें जलक्रीडा कर रहा है, अन्त पुर की रानियों के साथ इस पर विशाखनदी को वडा क्षोभ हुआ। और उसे अनिच्छा से वाहर ही रहना पडा। इसी दौरान में विशाखनदी की मा पियगु की दासिया भी पुष्प लेने के लिये उस उद्यान के पास आई, इन दासियो को भी विश्वभूति का उद्यान में होने के कारण-निराश ही वापस लौटना पडा।

दासियो के पास से सारा कारण जानने के वाद-रानी पियगु क्रोध से भर गई और सोचने लगी कि-"अरे। मै राजाकी रानी हू, विशाखनदी मेरा पुत्र है-और वह भावी युवराज भी है। इतना होते हुए भी इस विश्वभूति के कारण मेरे युवराज को हताश होना पडा और मेरी दासियो को विना पुष्पचयन किये निराश हो लौटना पडा-यह तो सरासर मेरा अपमान है।" ऐसा विचार

करती रानी प्रियगु शोपभवनमे चली गई। जब यह सब महाराज विशाखनदी को मालूम पडा—तो वे चिन्तातुर हो गए। रानी को प्रसन्न करने के लिये, और विश्वभूति द्वारा हुई अवहेलना को टालने की इच्छा से—और उसे दुर भेजने की कामना से (पुत्रप्रेम के कारण) उन्होने एक युक्ति निकाली। उस समय रण या युद्ध का कोई प्रसग न था, परन्तु कपट भावना द्वारा—छल की इच्छा से महाराज ने रणभेरी बजवा दी और यह घोषणा कर दी कि "हमारे अधीन पुरूषसिह नामक सामत विद्रोही हो गया है"।

"यह पुरुषसिह सामत प्रजाको भिन्न भिन्न तरीको से कष्ट दे रहा है, उसके साथ युद्ध करने के लिये मैं स्वय जा रहा हू।"

यह समाचार—उद्यान में जलक्रीडा करते—विश्वभूतिने भी सुना। सरल स्वभाव वाला विश्वभूति तुरन्त राजप्रासाद को लौटा और राजासे प्रार्थना करने लगा—"ऐसे सामत के विरुद्ध आप जैसे सामर्थ्यवान का युद्ध के लिये जाना शोभा नही देता, मै स्वय वहा जाने को तैयार हू, आप मुझे आशीर्वाद दीजिये—यह काम मै शीघ्रताशीघ्र समाप्त कर उसे आपके चरणो में हाजिर कर दूगा।"

विश्वभूति के इन विनम्र वचनो को सुनकर—राजाने आज्ञा दे दी। सेना लेकर विश्वभूति—पुरुषसिह का दमन करने को चला।

राजा के छल—प्रपंच को जान कर—विश्वभूति का चरित्र स्वीकारना

विश्वभूति के चले जाने के उपरान्त—विशाखनदी ने अपनी अन्त पुरकी दासियो व—रानियो के साथ उद्यानमे प्रवेश किया। और आनन्दपूर्वक जलक्रीडा करने लगा।

इधर विश्वभूति—प्रयाण करता करता—पुरुषसिह की जागीर मे पहुचा तो वहा उसका स्वागत हुआ, और उसका अवज्ञा रुपी समाचार

असत्य निकला । परस्पर शिष्टाचार आदि का क्रम पूर्ण होने पर विश्वभूति वापस लौटा। लौटते समय—उसी पुष्पकरडक उद्यान के पास—खडे रक्षक से उसे ज्ञात हुआ कि—विशाखनदी अपने परिवार के साथ जलक्रीडा कर रहा है।"

विश्वभूति वलवान होने के साथ साथ वुद्धिमान भी था। वह सारा भेद तुरन्त समझ गया। राजा विशाखनन्दीने अपने वेटे के सुख के लिये, उसे इस—क्रीडा उद्यान से—हटाने के लिये पुरुषसिंहने विद्रोह का झुठा नाटक खेला है, वह सारी चाल समझ गया। उसके हृदय में विशाखनन्दी के प्रति—और उसके पिता विश्वनदी के प्रति क्रोध भर गया। क्रोध ही क्रोध में उसने—पासके वृक्ष के तने को एक मुष्टिका प्रहार से झझोट दिया। वृक्ष पर लगे फल टपाटप नीचे गिरने लगे। तव उसने द्वारपाल को स्पष्ट शब्दो मे कहा —"हे द्वारपाल, सुनो। कुलमर्यादा का गुण तथा वडो के प्रति यदि मेरे मन में आदर न होता तो मैं तुम्हारे राजकुमार को और झुठे राजा को इन फलो के समान, मुष्टिप्रहार से धराशायी कर देता। सारे राज परिवार के धड शरीर से अलग कर देता।" इस प्रकार क्रोध के आवेश में वह कापता हुआ—जव थोडा शान्त हुआ तो मन ही मन विचार करने लगा। —

"अरे। मै तो अपने वडो के लिये मन मे इतना प्यार—आदर रखता था, परन्तु वे सव मेरे लिये कपट रखते है। सत्य ही है यह ससार ऐसे ही कपट-छली-धूर्त लोगो मे भरा हुआ है। विषय भोगो का सुख क्षणिक है परन्तु उसका परिणाम वडा भयानक होता है। ऐसे ससार मे रहना और अपनी आत्मा को अधोगति मे गिराना ठीक नही। इसमे तो वेहतर यही है कि इस मोह-माया जजाल रूपी ससार को तिलाजलि देकर आत्मकल्याण के पवित्र मार्ग के लिये प्रयाण करु यही मेरे लिये हितकर मार्ग होगा।

इस प्रकार मनमें वैराग्य भावना के उदय होने से चारित्र ग्रहण का निर्णय कर वह अपने घर माता पिता के पास न जाकर सीधे उस प्रदेश मे विचरते सभूति मुनि श्रेष्ठ के पास पहुच गया और अति उल्लास पूर्ण हृदय से उसने चारित्र ग्रहण कर लिया। विश्वभूति राजकुमार इस प्रकार विश्ववद्य विश्वभूति मुनिराज हो गया।

जब यह समाचार विश्वनदी को मिला तो वह अपने पुत्र विशाखनदी तथा स्वजन बधुओ को साथ लेकर वहा आया। अपने द्वारा हुए इस अपराध—व भूल के लिये बार बार क्षमा याचना की और दीक्षा छोड कर घर आकर राज्यभार सभालने का आग्रह किया, परन्तु विश्वभूति मुनि इस प्रलोभन मे न फसा। वह अपने गुरु की सेवा मे रह कर सयम धर्म पर अडिग रह कर ज्ञान ध्यान के साथ साथ छठ-अठ्ठम आदि तपो की आराधना मे लीन हो गया। छठ-अठ्ठम से आगे चार पाच फिर पक्ष क्षपण (पन्द्रह दिवस उपवास) और मास क्षमण (तीस उपवास) की तपस्या की ओर बढता गया। इस प्रकार कठोर तपस्या करने से उसका सारा शरीर पूर्णतय कृष हो गया। फिर गुरु की आज्ञा प्राप्त कर विश्वभूति मुनि एकाकी विहार करने लगा। सयम गुण और तप के कारण उसका शरीर उज्ज्वल बन रहा था।

संयम मार्ग को स्वीकार करने के बाद उसमे स्थिरता रखना महा-सौभाग्य का काम है.

वर्तमान भव की अपेक्षा अतीत काल के भवो में जिस आत्माने एक बार भी भाव चारित्र की आराधना की होती है और फिर अमुक समय बाद मोह के उदय के कारण यह आत्मा कदाचित् यदि सयम मार्ग से विचलित हो भी गई हो, परतु जितना काल भाव चारित्र का पालन किया है, और आत्मा को फिर उसने मोह वश

ससारी वनाया भी हो तो वे पूर्व योग के सस्कार कभी न कभी सुन्दर लाभकारी सिद्ध होते है । इस सत्य के प्रसग में विश्वभूति मुनि का यह दृष्टान्त ध्यान रखने योग्य है । सयम ग्रहण करने के बाद उससे भ्रष्ट नही होना चाहिये—यही वस्तुत सच्चा मार्ग है, सर्वोत्तम मार्ग है-परन्तु फिर भी यदि कभी अनन्त काल से जमा हुए मोहनीय कर्म की प्रवल सत्ता के कारण सयोग से यदि ऐसी आत्मा में सयमो के प्रति कदाचित शिथिलता या कमजोरी आ भी जाती है तो सयम के शिखर पर पहुचने को प्रस्थान करती आत्मा आधे मार्ग मे ही नीचे खिसक आती है । "**संयम ग्रहण करके उससे भ्रष्ट होने से कही अच्छा यह है कि सयम को स्वीकार न किया जाय, यही उत्तम है**" ऐसे वाक्य आज अपने समाज में कितने ही वार उच्चारण मे आते है । ऐसे वाक्यो के उच्चारण मे काफी उपयोग रखने की आवश्यकता है । ऐसा एकान्त कथन करना जैन दृष्टि में उचित नही माना जाता ।

कोई भी संयमी आत्मा सयोगवश—सयम मे यदि शिथिल हो जाय तो ऐसे समय पर उसे सत्य दृष्टि द्वारा सयम में स्थिर रहने का उपदेश देना योग्य होता है, न कि उसकी अवहेलना । ऐसे शब्द वोलने वालो के अपने हृदय में सयम—अथवा सयमी के प्रति सद्भाव होना चाहिये । और यदि यह भावना नही होती तो ऐसी परिस्थिति में किसी साधुपुरुष को सयम मार्ग से पदच्युत हुआ देखकर अपने मुख मे—यह कहना "सयम ग्रहण करने के वाद सयम से भ्रष्ट होना इस से तो अच्छा यही था कि सयम न लिया होता" ऐसे वाक्य वास्तव मे अप्रशस्त भाव से उच्चारण मात्र से ही वोलने-वाले के लिये अहित कारण होते है । सयम जैसा अति पवित्र मार्ग प्राप्त होना एक अत्यन्त सौभाग्य की वात है, इस मे भी अधिक सौभाग्य पूर्ण-उस सयम तप पर अडिग रहना माना जाता है । उस

वात में कोई संशय नहीं कि अनन्त भूत काल से इस आत्मा को कठिन पुरुषार्थ करना पडा है, कंचन–कामिनी–काया की मोह दशा मे असंख्यो वार उस पर विपरीय सस्कारो का आवरण–अवरोध रूप वन कर खडा हुआ है।

इन विपरीत सस्कारो का विपरीत प्रभाव अव भी आत्मा पर थोडे वहुत प्रमाण में तो विद्यमान रहता ही है। ऐसी स्थिति में यदि अनुकूल प्रतिकुल परिसह आदि के कारण विपरीत सस्कारो के मौजूद होने से कदाचित् विकार रूप प्रगट हो भी जाय, तो इसका साराश यही मानना चाहिये कि-सायम के दिव्य प्रकाश पर-अमुक समय तक अन्धकार का आवरण पड गया था।

क्षायोपशम भावना गुणमें चल-विचल अवस्था :

मोहनीय कर्म के–कारण जव तक "औदयिक" भाव ही अनादिकालसे व्यवहार मे भूल रहे तो ऐसी अवस्था को अंधकारमय अवस्था कहते है। इस मोहनीय कर्म मे दर्शन मोह (मिथ्यात्व) का सर्व प्रथम जव उपशम अथवा क्षयोपशम होता हैं, तव दष्टि पर्याय मे जो अंधकार विराजमान होता है, उस मे अनुपम प्रकाश फैलने लगता है। परन्तु यह प्रकाश सदा रहने वाला नही होता, अस्थिर होता है। उपशम भाव का प्रकाश अधिक मे अधिक एक अन्तर्मुहर्त तक और क्षयोपशम भाव का प्रकाश अधिक से अधिक असख्य काल तक स्थित रहता है। परन्तु यह असख्य काल भी किसी एक विसिष्ठ आत्मा के लिये ही होता है। अधिकतर तो ऐसा ही देखने में आता है कि थोडे थोडे समय के लिये प्रकाश, फिर अन्धकार, इनका वारी वारी परावर्तन चलता रहता है। इन के प्रारम्भ मे भी प्रकाशका समय थोडा–और अन्धकार का समय थोडा लम्बा होता है। जव तक कोई भी गुण क्षायिक भाव को प्राप्त

नही होता, तब तक उस गुणमें-चल-विचल-परिस्थिति होना अवश्य-भावी है। इस में भी यदि अनादिकाल से लगातार मोहनीय कर्म के एकान्त औदायिक भाव मे से एक बार भी उपशम भाव अथवा क्षयोपशम भावजन्य यदि सम्यग् दर्शन गुण का प्रकाश प्राप्त हो जाता हैं, और फिर यदि उसे अन्धकार का आवरण प्राप्त हो भी जाता है। तो सुअवसर के आने पर उस आत्मा मे फिर प्रकाश आ जाता है। देवदर्शन—पूजन आदि मगलमय धर्माचरण करने वाले किसी भी महानुभाव को सदा ही प्रकाश पूर्ण स्थान प्राप्त हो ऐसा प्राय नही बनता । फिर भी यदि आत्मा योग्य हो और धर्मानुष्ठान आदि सयत सुसगत रुप से हो तो किसी न किसी क्षण यह प्रकाश की दशा तो प्राप्त हो ही जाती हैं।

और इस प्रकार आत्मा मे प्रकट हुआ यह प्रकाश पुज धीरे धीरे, थोडे समय में, या अधिक से अधिक "अपार्ध पुद्गल परावर्त" कालमे तो उस आत्मा के आत्म मदिर मे फिर से अनुपम प्रकाश प्रगट हो जाता है और वह महानुभाव अवश्य ही मुक्ति का अधिकारी बन जाती हे ।

मरिचिके भवमे पाले हुए सयम का प्रभाव :

भगवान महावीर की आत्मा ने सोलहवे भवमे विश्वभूति का रुप धारण किया, उसे—भोग विलास सुख—ऐश्वर्य की सभी सामग्री सरलता से उपलब्ध थी । इतने पर भी विश्वनन्दी राजा के छल कपट से दुखी होकर—विश्वभूति की आत्मा मे जागृति उत्पन्न हुई। और इस छल कपट रुपी ससार के प्रति उस के हृदय मे वैराग्य की भावना उत्पन्न हो गई । इस का कारण यह था कि मरिचि के भवमे भगवान श्री ऋषभ देवजी के पास चारित्र ग्रहण करने के बाद वर्षो तक श्रद्धापूर्वक चारित्र पालन करके आत्मा के

उत्तर सस्कार से सुवासित किया था। इसके उपरान्त मोह के उदय से मरिचि अपने सयम से च्युत हो गया और इन शुद्ध पढे हुए संस्कारो पर एक आवरण सा पड गया।

अब विश्वभूति के भव मे निमित्त के मिलते ही यह आवरण छुट गया और विक्षिप्त हुए वे पुनित सस्कारो की ज्योति फिर प्रकाशित हो उठी। यह प्रभाव वास्तव मे मरिचि के भव में कमाए हुए सस्कारो के ही कारण था।

विश्वभूतिद्वारा किया नियाणा (एक सौगन्ध) आयु की समाप्ति और सत्रहवें भव में महाशुक्र देवलोक प्रति प्रयाण :

उग्र तपस्वी विश्वभूति मुनि मासक्षमण आदि कठोर तपस्या का पारणा करने के लिये मथुरा नगर मे पधारे। उसी समय—विशाखनदी भी—वहा के राजा की कन्या के साथ पाणिग्रहण करने की इच्छा से—आया हुआ था। गोचरी के लिये निकले विश्वभूति मुनि—घूमते घूमते भवितव्य के योग से (भविष्य मे होनेवाली होनी—जिसे टाला नही जा सकता) विशाखनदी की छावनी के पास से गुजरे। उन्हें देख कर—उन का तपस्याद्वारा कृष (कमजोर—सुखा—दुर्वल) शरीर देख और पहचान कर विशाखनदी के अनुचरो ने उनका मजाक करना चाहा। उन की खिल्ली उडाने के लिये और उपहास करने के लिये वे चिल्लाने लगे "जय हो—राजकुमार विश्वभूति की जय हो" इतने में विशाखनन्दी भी अपने तम्बूमे से निकल कर वहा आ गया। सामने विश्वभूति को खडा देखकर उसे भूतकाल की घटना याद आ गई। और वह क्रोध से भर गया। इसी समय—अचानक मार्ग मे गुजरती एक गाय का धक्का लगनेसे दुर्वल शरीर वाले विश्वभूति मुनि जमीन पर गिर गए। विशाखनदी के मन मे क्रोध तो था ही, तिसपर विश्वभूति को गाय का जरासा धक्का लगते पृथ्वी पर गिरते देख कर उसे बडा आनन्द प्रतीत हुआ।

उस ने उन का उपहास करते हुए कहा—"हे मुनिराज--गृहस्थ आश्रम मे एक ही मुष्टिका प्रहार से--वृक्ष को कपायमान कर उस पर लदे हुए फलो को पृथ्वी पर गिरा देने में क्षम सामर्थ्य—आप का वह महान बल का क्या हुआ ? गाय के मार्ग मे पड जाने से—जरा सा धक्का मात्र लग जाने से भूमि पर लोटने की यह आप की शोचनीय स्थिति कैसे हो गई ?

विशाखनन्दी के ये शब्द (जो उसने—मजाक मश्करी मे कहे थे-उन्हे चिढाने और संतप्त करने के लिये) सुनकर विश्वभूति अपने क्षमाधर्म से चूक गए—और एक क्षण के लिए क्रोध मे भर गए। क्रोध के आवेश का प्रभाव मन पर भी पडा। मनोदशा अस्थिर सी हो गई। और ऐसी-मानदशाजन्य अहभाव के कारण "अभी भी मैं पहले के समान ही बलशाली हूँ, बेशक तपस्याद्वारा मेरा शरीर कम-जोर हो गया है, परन्तु मैं दुर्बल नही हूँ"। ऐसा विचार आते ही विशाखनन्दी को अपना बल और शक्ति का प्रदर्शन करने हेतु और उस का दर्प (मजाक) का उत्तर देने के लिये—उसी गाय को-दोनो सीगो से मजबूत पकड कर उपर आकाश मे उठा कर घुमाया" और साथ ही साथ यह भी सौगन्ध ली कि यदि मेरी आज तक की कठिन तपस्या का कुछ फल है तो मै अपने भावी जीवन में इस तपस्या के फल स्वरूप इतना बल-प्राप्त करू कि मेरी हसी करने वालो (विशाखनन्दी आदी) का मानमर्दन कर सकू"

इस प्रकार की धारणा और भावना की मलिनता के आ जाने से विश्वभूतिमुनि लगभग एक कोटि वर्ष पर्यन्त साधुवेश मे विचरण करता रहा परन्तु इस मैले विचार की आलोचना अथवा प्रायश्चित न कर सका। और आलोचना किये बिना ही सत्रहवे भव मे वह सातवे शुक्र देवलोक मे महर्द्धिक देव रूप हुआ।

श्रमण भगवान महावीरका अठारहवां भव

त्रिपृष्ठ वासुदेव

विश्वभूति के भव के नए रूपमें

विश्वभूति का भव गृहस्थाश्रम अथवा साधुजीवन दोनो मे ही नए-नवीन रंगोसे पूर्ण था। राजकुल में राजकुलके रूपमे जन्म-अद्भुत शारीरिक वल — वडो के द्वारा पक्षपात पूर्ण रवैये से मनमे उत्पन्न वैराग्य भावना और इसके परिणाम स्वरुप-चारित्रग्रहण-अव सयम के जीवन में ज्ञान ध्यान सयम के साथ साथ मास क्षमण की कठोर तपस्या, मथुरा में पारणा, पारणा प्रसग मे गोचरी के लिये जाते हुए गाय की चपेट में आकर गिर जाना, ऐसे अवसर पर विश्वनदी द्वारा-उपहास, इस उपहास के फल स्वरूप उपजी क्रोध तथा वैर की उत्पन्न हुई प्रवृत्ति, और भवान्तर मे वदला लेनेकी भावना के लिये सौगन्ध उठाना, और फिर अन्त मे आलोचना किये विना ही स्वर्गगमन। और फिर सातवें देवलोक मे महर्द्धिक देव रूपमें उत्पत्ति।

इस प्रकार सोलहवे भव के विशुद्ध और सकलिष्ट परिणामो के द्वारा और उसके शुभ-अशुभ चित्र विचित्र भावोका समावेश होता है।

जीवो के दो प्रकार क्षपित कर्माश और गुणित कर्माश

जिन जीवात्माओको आज तक एकवार भी सम्यगदर्शनजन्य आत्मज्ञान और उससे पूर्वकी भूमिकाए प्राप्त नही हुई उन मे ऐसा

समझना चाहिये कि अभीतक विकास क्रम का प्रारम्भ हुआ ही नही। ऐसे जीवकी आत्मा इस समय मे पूर्ण अंधकार मे भरी हुई है।

"परम पुद्गल परावर्त" धर्म क्रियाओ के प्रति अभिरुचि, धर्म मार्गानुसरण, जिनवाणी का श्रवण करने मे अन्तर आत्मा का प्रेम, और इन के फल स्वरूप कषायो की मन्दता के साथ सम्यग् दर्शन गुण की प्राप्ति, ये सब ससारी जीवात्माओ में विकास क्रम की प्रथम अवस्थाए है। एक वार जब आत्माका विकास प्रारम्भ हो जाता है तो कुछ एक ऐसी आत्माए होती है जिन का उत्तरोत्तर विकास होता ही रहता है। विकास का यह प्रारम्भ एक वार शुरु हो जाने के वाद प्राय कर उस में अवरोध कम ही आता है। परन्तु कभी कभी ऐसा भी हो जाता है कि जिस भव में सम्यग् दर्शन की प्राप्ति होती है उसी भवमें चरित्रक्षपक श्रेणी पर आरोहण और केवलज्ञान के साथ मोक्ष प्राप्ति भी हो जाती है। परन्तु ऐसी उत्तम परिस्थितिवाले जीव वहुत कम होते है।

शास्त्र सिद्धान्तो में दो प्रकार के ससारी जीव कहे गए है। कुछ जीव "**क्षपित कर्मांश**" वाले होते है, और कुछ जीव गुणित **कर्मांश** वाले होते है।

आत्माका—आरोह—अवरोह और भव्य तथा अभव्य जीव

किसी भी योनिमे जन्म लेने के वाद, स्वाभाविक तरीके से जिन आत्माओको अन्य जीवोकी अपेक्षा सहजता से, सरलतासे कम से कम कर्मवंध प्राप्त होते है और अधिक मात्रामें (प्रमाणमें) (अकाम) कर्म निर्जराका प्रसग प्राप्त होता है ऐसी आत्माओ को क्षपित कर्माश आत्मा कहा जाता है। जिन आत्माओको किसी भी जीव योनिमें जन्म लेने के उपरान्त अधिक से अधिक कर्मवन्धन करने के साथ कम से कम कर्म निर्जरा के साधन प्राप्त होते है उन्हे गुणित

कर्मांश आत्मा कहा जाता है । उन प्रकार के संसारी जीवों में जो क्षपित कर्मांश होती हैं उन आत्माओं को एक बार गुणस्थानक की भूमिका पर आरोहण के बाद उस से अवरोह होना प्राय कम ही होता है ।

परन्तु जो आत्माएं गुणित कर्मांश होती हैं प्रथम तो उन्हें प्रारम्भिक आरोह कठिन होता है, यदि हो भी जाय तो फिर ऊपर बढते रहना या स्थिरताको प्राप्त करना अत्यन्त कठिन होता है । माता मरुदेवी की तरह कोई एक ही भव्य जीव ऐसा होता है जो प्रथम कक्षा को प्राप्त होता है । अधिकतर आत्माए तो दूसरी श्रेणी मे ही रहती है । अभव्य आत्माओं के लिये तो आरोह या विकास का स्थान है ही नही—ये अभव्य आत्माए एकेन्द्रिय हो या पंचेन्द्रिय मनुष्य हो या तिर्यंच देव का अवतार पाए, या नारकी रूप मे जाए, परन्तु अंतरंग दृष्टि से इनका आत्मिक विकास हुआ नही है और भावी काल मे भी नही होता है । इसी कारण से उन्हे अभव्य आत्मा कहा जाता है । "जीवत्व" "अजीवत्व" इस प्रकार से ये अनादि पारिणामिक भाव गिने जाते है । उसी प्रकार से "भव्यत्व" "अभव्यत्व" ये भी अनादि भाव है । जीव तो तीनो काल में जीव ही रहता है और अजीव भी अजीव ही है ।

उसी प्रकार भव्य जीव किसी भी काल मे अभव्य नही होता, और अभव्य-भव्य नही होता यह जैन दर्शन का सनातन सिद्धांत है ।

गुणस्थानको में आरोह–अवरोह

नयसारके भवमें भगवान महावीर को आत्माने सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद मरिचिका भव फिर मुनि विश्वभूति का भव-इन भवो में आत्माके विकास क्रमकी अपेक्षा से आरोह–अवरोह की

स्थिति–परिस्थिति चालू रही थी । एक तरफ राज्यवैभव का परित्याग करके–संयम धर्मको स्वीकार करना, और फिर उग्र तप धर्मका जीवन क्रम, यह उच्च कक्षाका विकास क्रम–माना जाता है, और ऐसे संयम रूपी जीवन मे थोड़े से उपहास के कारण अहम् भावना के उदय द्वारा सौगन्ध खा लेना और भावी बदला लेने की भावना को जन्म, यह अचानक अवरोह की अधोगामी दशा को प्राप्त करना है।

" कत्थई बलिय कम्मं–कत्थई बलिओ आया "

कोई बार कर्म सता बलवान हो जाती है, और किसी समय आत्मसता बलवान हो जाती है । ऐसे शास्त्रीय वाक्यो के आरोह-अवरोह से भरे जीवन प्रसगो मे स्पष्ट ऐसा विचार आता है कि सातवें गुण स्थान से उपर के सभी गुणस्थानो मे क्षपक श्रेणी की अपेक्षा–आत्मा के लिये केवल आरोहकी ही अवस्था होती है । और आसन्न भव्य के प्रथम गुणस्थान से छट्ठे गुणस्थान तक और कभी कभी सातवें गुण स्थान तक भी आरोह अवरोह दोनो प्रकार की अवस्था रहती है ।

द्रव्य पाप–भावपाप का विचार

विश्वभूति मुनि आयुष्य पूर्ण कर वैमानिक निकाय मे बारह देवलोक मे से सातवे देवलोक मे देव रूपसे उत्पन्न हुए । इस देवलोक से भी आयु समाप्त कर–

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में पोतनपुर नगर में प्रजापति राजाकी मृगावती रानी की कोख से त्रिपृष्ठ वासुदेव रूपमे अवतरित हुए । विश्वभूति मुनि के भव में भगवान महावीर की आत्मा ने जो नियाणा (सौगन्ध) की थी कि " मेरे चरित्र पर्याय मे जो तप-

तपस्या आदि धर्म आराधना का फल है उस के द्वारा मेरी अभिलाषा यह है कि मैं भावी जीवन मे (मनुष्य जन्म) अत्यन्त बलवान बनू और इस बल के परिणाम स्वरूप विशाखनदी आदि के उपहास का बदला लू" ।

जो धर्म, धर्मबुद्धि से होता है, वह आत्मा के अन्तर रूप में या परपर रूप मे आत्मा को मोक्ष पहुचाता है ।

परन्तु जो धर्म—धर्मबुद्धि के स्थान पर धन—दौलत—शारीरिक बल, आदि भौतिक सुख की कामना के लिये किया जाता है अथवा धर्म प्रवृत्ति के होने के बाद उस के फल स्वरूप भौतिक सुख की कामना की जाती है, तो उस के फल स्वरूप (धर्मफल द्वारा) भौतिक सुख की प्राप्ति तो हो ही जाती है, इस मे कोई सशय नही । परन्तु इसके परिणाम स्वरूप भौतिक सुख के पीछे—आत्मा का अध पतन भी प्रारंभ हो जाता है ।

विश्वभूति के भव में किया हुआ सयम और तप, धर्म की, हुई आराधना, आत्मा को अनन्त सुख की प्राप्ति का कारण रूप थी । परन्तु बाद में भवितव्य के योग द्वारा एकान्त भौतिक सुख की भावना द्वारा जो भावी इच्छा के उद्गार निकले उन में मोह की प्रबलता का दर्शन होता है ।

अठारह— पाप स्थानो में, प्रथम के— हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन आदि पाच द्रव्य पाप कहलाते है । इसके बाद के क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि पापस्थानो में भाव पाप की प्रधानता मानी जाती है । जीवन में जितना अधिक द्रव्य पाप होता है उसी प्रमाण में अघाती कर्म की अशुभ प्रवृत्तिया (पाप प्रवृत्तिया) द्वारा

भव-१६

सोलहवें अवतार में भगवान की आत्मा विश्वभूति मुनि के रूप में थी। उस समय अपने बल की निंदा सुनकर शक्ति बताने के लिये गाय की सींग पकड़ कर उसे ऊपर उछाल रहे हैं।

पृष्ठ ६९ देखो

आत्माका वध होता है। और जितना ही राग द्वेपादि-वैर वृत्ति द्वारा भावपाप का समावेश होता है उतने ही प्रमाण मे मोहनीय आदि घातीकर्मो का तीव्र वध होता है। उन के फल स्वरूप भावी काल में आत्मा का अवपतन हो जाता है।

जीवन में नियाणा (सौगन्ध, वदले की भावना) की उत्पत्ति भी तो भाव पाप ही कहलाती है। ऐसा करने से पूर्व अथवा वाद में विश्वभूति मुनि पचमहाव्रत धारी होने के कारण हिसा, असत्य आदि द्रव्य पापकर्मो मे तो पूर्णतया अलग थे। परन्तु उनमे द्रव्य पुण्य का जहर होने के कारण—सत्रहवे भवमे देवलोक और फिर अठारहवें भव मे त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप मे जन्म लेना पडा। इस प्रकार यह तथ्य वहुत विचारणीय है कि—

जीवन में जितना जितना द्रव्य पाप का त्याग होता है— उतना उतना द्रव्यधर्म—और उस के फल स्वरूप पुण्योदय के कारण उतने ही प्रमाण में स्वर्गादि वाह्य सुखो की प्राप्ति होती है उसी प्रकार मे जीवनें जितने भाव पापो का त्याग किया उतने ही अश में भावधर्म और उस के प्रभाव से आत्मा को सम्यग्दर्शन आदि अभ्यन्तर गुणो की अनुकूलता प्राप्त होती है।

त्रिषष्टि शलाका पुरुष

अढाई द्वीपमें ५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह इस प्रकार इस कर्म भूमि क्षेत्र के १५ भाग हैं। इन पद्रह कर्म भूमियोमें पाच महाविदेह क्षेत्रोमो तीर्थ कर चक्रवर्ती आदि शलाका पुरुषो का विचरण नही होता। परन्तु पाच भरत और पाच ऐरावत क्षेत्रो में काल चक्र का परिवर्तन होने से तीर्थकर चक्रवर्ती आदि उत्तम पुरुषो का जन्म आदि होता रहता है। अवसर्पिणी कालमे तीसरे आरे के

अन्तिम भागसे लेकर चतुर्थ आरे के भाग तक, और उत्सर्पिणी काल के तृतीय आरे के प्रारम्भ से चतुर्थ आरे के प्रारम्भ होने के काफी काल तक चौवीस तीर्थंकरो, वारह चक्रवर्ती, नव वासुदेव और नौ वलदेव इस प्रकार त्रेसठ शलाका पुरुषो का उद्भव शास्त्रोक्त मर्यादा मे अवश्य होता है ।

तीर्थंकर व चक्रवर्ती

इन में तीर्थंकर भगवत जो होते है वे धर्मतीर्थो के प्रवर्तक-महागोप-महा निर्यामक—महान सार्थवाह अथवा धर्म चक्रवर्ती होते हैं। इन तीर्थंकरो द्वारा वताए गए धर्मतीर्थो का आलवन करने से असख्य आत्माओ को मुक्ति सुख प्राप्त होता है। तीर्थंकर भगवत भी स्वय आयुष्य पूर्ण कर निर्वाण पद को प्राप्त करते है । अशोक वृक्ष आदि आठ महा प्रतिहारी अथवा दुसरे वाह्य अभ्यन्तर ऐश्वर्य सभी तीर्थंकरो को प्राप्त होते है, इन्ही कारणो से इन्हे धर्मदेव कहा जाता है ।

चक्रवर्ती मानव श्रेष्ठ—इन्द्र के समान, अथवा नरदेव रूप में गिने जाते है । छ खड का ऐश्वर्य उन्हें प्राप्त होता है, वत्तीस हजार मुकुट वद्ध राजा चक्रवर्ती की आज्ञा में रहते हैं और चौदह रत्न और नवनिधान के पुण्योदय की उन्हें प्राप्ति होती है । हजारो यक्ष देव चक्रवर्ती की सेवा मे रहते है । ऐसे अपूर्व वैभव को प्राप्त करने पर यदि कोई चक्रवर्ती वैराग्य धारण कर चारित्र ग्रहण करता है तो उस महानुभाव को मोक्ष या स्वर्गलोक प्राप्त होता है । परन्तु जो चक्रवर्ती पापानुवधी पुण्योदय वाला होने के कारण विषय कषाय आदि की तीव्रता के कारण वैराग्य रग से वचित रहता है ऐसे चक्रवर्ती आयुष्य पूर्ण कर नरक गति को प्राप्त होते है । इस अवसर्पिणी काल में भरत क्षेत्र में, भरत आदि वारह चक्रवर्ती में से

आठ चक्रवर्ती मोक्षगामी हुए है । दो स्वर्ग लोक में गए और बाकी के दो, सुभूम और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती सातवे नरक मे गए ।

वासुदेव--प्रतिवासुदेव व बलदेव

वासुदेव निश्चित प्रमाण से पिछले भव में नियाणा (अहकार पूर्ण सौगन्ध अथवा भावनाद्वारा धर्म अवहेलना) करने के फल स्वरूप वासुदेव पद प्राप्त करते हैं । और इस वासुदेव स्थिति मे, अनेक दुष्कर्म करने मे, नरक गति को ही प्राप्त होते है । वासुदेवो को नरक गति ही मिलती है । प्रतिवासुदेव अनेक रण सग्राम करके तीन खडो का साम्राज्य सुख प्राप्त करते है, इसी बीच वासुदेव का भी जन्म होता है, उसी खड मे । और वे प्रतिवासुदेव का वध कर उनके त्रिखडी साम्राज्य को भोगने लगता है और उस के अधीन सोलह हजार राजा-सामत रूप रहते है । सात रत्नो की भी प्राप्ति उन्हे होती है, उस समय के मानवीयो मे उस वासुदेव में सबसे अधिक बल और शक्ति होती है इस कारण सर्व प्रकार की भोगोपभोग की वस्तुओ का सेवन करते हुए मस्त होकर अनेक प्रकार के पापाचरण द्वारा उन्हे नरक में जाना पडता है ऐसा शास्त्रो का मन्तव्य है ।

वासुदेव अने प्रति वासुदेव--ये दोनो पूर्वजन्म के वरी होते है । प्रति वासुदेव अपनी शक्ति और रण कौशल द्वारा वर्षों तक युद्ध आदि कष्ट उठा कर तीन खड का ऐश्वर्य प्राप्त करता है परतु जब उस ऐश्वर्य का सुख भोगने का समय आता है तो वासुदेव यौवन को प्राप्त किये हुए किसी भी कारण मे प्रतिवासुदेव के साथ युद्ध कर उस का सिरच्छेद कर उसे यमलोक में भेज कर उस के द्वारा अर्जित ऐश्वर्य का भोग करता है । इस समय रुद्र ध्यान में परिवेश प्राप्त प्रतिवासुदेव नरक गति में चला जाता है । वासुदेव और प्रति वासुदेव दोनो सगे भाई होते है । दोनो का पिता एक

परन्तु माताए अलग अलग होती है । इतना होने पर भी दोनो मे अनन्य स्नेह सम्बन्ध भी होता है, एक दूसरे के बिना रह भी नही सकते । दोनो मे इतना प्रेम होने पर भी उन के अन्तरग जीवन मे जमीन आसमान का सा अतर होता है । जीवन पाप परायण होता है ।

इस के विपरीत बलदेव का जीवन धर्म परायण होता है । समय आने पर बलदेवकी की आत्मा वैराग्य रग में रग जाती है और वह दीक्षा ग्रहण कर लेता है । ज्ञान-ध्यान-सयम-तप की आराधना कर, सकल कर्म क्षय कर मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा वैमानिक निकाय मे स्वर्गलोक का अधिकारी हो जाता है ।

पाच भरत, पाच ऐरावत क्षेत्र मे प्रत्येक अवसर्पिणी काल में उपर लिखित रूप से त्रेसठ शलाका पुरुष होते है । इन में से चौवीस तीर्थ कर तो निश्चित रूप से मोक्षगामी होते ही है बाकी के बारह चक्रवर्ती-- नव वासुदेव-- नव प्रति वासुदेव और नव बलदेवो उपर बताए अनुसार कोई मुक्ति में, कोई स्वर्ग में, और कोई नरक में जाता है और नरक में जानेवाली ये आत्माए अमुक भवो के बाद अन्त में तो मोक्षगामी होती ही है ॥

पुत्री के साथ–पिता द्वारा किया गन्धर्व विवाह

भगवान महावीर की आत्माने सत्रहवें भव मे शुक्रदेवलोक से आयुष्य पूर्ण करके भरत क्षेत्र मे पोतनपुर नगर मे राजा प्रजापति की रानी मृगावती की कोख से पुत्र रूप में जन्म पाया । इस समय माता को सात स्वप्न दीखे थे । अरिहत अथवा चक्रवर्ती की माता को चौदह स्वप्न देखते ही जैसे जागृतावस्था हो जाती है--उसी प्रकार वासुदेव की मा भी सात स्वप्न देखकर जाग उठी । पोतनपुर के राजा को दो रानिया थी । एक का नाम भद्रा था और दूसरी का

नाम मृगावती । भद्रा एक विशिष्ट राजकुल की कन्या थी । उसने राजा प्रजापति के साथ योग्य समय पर पाणीग्रहण किया था । कुछ समय के बाद उसने एक पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया । पुत्र का नाम अचलकुमार था और वह बलदेव के रूप में उत्पन्न हुआ था । पुत्री का नाम मृगावती था । यही मृगावती यौवनावस्था में प्रवेश करने पर इसी के साथ राजा प्रजापति ने गन्धर्व विवाह कर लिया था । इस प्रकार एक समय पुत्री रूप मृगावती अब प्रजापति की रानी हो गई थी । यह प्रसंग इस प्रकार घटा—

यौवनावस्थामे प्रवेश पाने पर राजकुमारी मृगावती का सारा शरीर अत्यन्त सौन्दर्य रूप मे खिल उठा । एक तो राजकुल में जन्म-रूप-लावण्य से भरपूर-सुख वैभव मे लालन पालन के कारण उस के अंग अंग में मादकता भर गई । उस का यह सौन्दर्य देख कर राजा के हृदय में विकार वृत्ति पैदा हो गई । परन्तु वह तो उसीकी पुत्री थी । पिता-पुत्री का सम्बन्ध बदल कैसे सकता था ?

परन्तु कामोत्तेजना तथा मानसिक विकार को प्राप्त राजाने अब अनीति और बुद्धि का दुरुपयोग करने का निश्चय कर लिया । एक समय राजसत्ता में उपस्थित मंत्रियों, सभासदों, सामंतो तथा प्रजाजनों के समक्ष संबोधित हो राजाने एक प्रश्न पूछा, "राज्य महलमें यदि कोइ रत्न उत्पन्न हो तो उस का स्वामी कौन ?

राजा के मनमें क्या कपट है, इस का भला मंत्रियो आदि को क्या पता ? सरल स्वभाव वाले मंत्रियो ने एक साथ मिल कर कहा—" इस मे पूछने की आवश्यकता ही क्या—महाराज ? राज महल मे उत्पन्न रत्न का स्वामी तो राजा ही होता है । इस प्रकार राजाने कई बार यही प्रश्न दोहराया । हर बार यही उत्तर मिला । इस प्रकार का समर्थन पाकर राजाने अपनी कपट कला से उन्हे वचनबद्ध करके अपना स्पष्ट भाव प्रगट कर दिया । जिसे सुनकर

सभी चौक उठे—परन्तु सरलता वश वचनवद्धता के कारण ऐसी घटना घट ही गई ।

यू तो राजा का वास्तविक नाम रिपुप्रतिशत्रु था परन्तु इस घटना के बाद से उसका नाम लोगोंने प्रजापति रख दिया था, क्योंकि उसने एसा अघटित कार्य किया था कि उसने अपनी ही पुत्री से गन्धर्व विवाह किया या उस प्रकार अपनी ही प्रजा का पति होने के कारण उस का यह नाम पड गया ।

मृगावती के साथ विलास भोगता हुआ प्रजापति अपने छल द्वारा कॉम क्रीडा करने लगा ।

भगवान महावीर की जीवात्मा इसी मृगावती की कोख से त्रिपृष्ठ वासुदेव तरीके उत्पन्न हुई । कर्म की कैसी विचित्र गति है । मोह की कैसी लीला है—यह घटना एक प्रत्यक्ष प्रमाण है-मोहलीला का ।

७

श्रमण भगवान महावीरका अठारहवां भव

त्रिपृष्ठ वासुदेव

संसारी जीवो में स्त्री-पुरुष-नपुसक विभाग

ससार में विचरती प्रत्येक जीवात्मा चैतन्य धर्म रूप से समान होने हुए एक ही रूप होती है । त्रस-और स्थावर रूप से-दो प्रकार की होती है । और स्त्री-पुरुप-अथवा नपुसक (नान्यतर जाति) रूप से तीन प्रकार के भेद होते है । स्त्री-पुरुष और नपुसक मे लिग और वेद की अपेक्षा से दो-दो प्रकार होते है । शरीर के अगोपाग स्त्री जैसे हो तो स्त्रीलिग, शरीर के अगोपाग, पुरुप के समान हो तो पुरुप लिग, और शरीर के अमुक अग-पुरुष-और अमुक अग स्त्री सरीखे हो तो वह नपुसक लिग कहलाता है ।

पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-वनस्पति मे जब तक चैतन्य है, तब तक वे सभी नपु सक लिग वाले कहलाते है । दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय अथवा चतुरेन्द्रिय जीव भी नपु सक लिग मे भी आते है । नरक मे रहने वाले सभी नारकी नपु सक होते है । अब रहे मनुष्य-और तिर्य च जीव-उनमे तीनो लिगो का-प्रारुप होता है । इसी प्रकार स्वर्ग लोग मे-स्त्री और पुरुष (देव और देवी) दो ही लिग होते है ।

इस प्रकार ससारी जीवो में शरीर की आकृति के अनुसार अथवा अगोपाग की भिन्नता के कारण-यह लिग व्यवस्था की समीक्षा-

ज्ञानियों ने की है। व्यवहार की अपेक्षा-इस में थोडा अन्तर आ जाता है। पृथ्वी-जल-वायु-कीडी-मकोडा-अनेक प्रकार के दूसरे जीवों में भी नर जाति, नारी जाति, नान्यतर जाति रुप मे भिन्न भिन्न नामो से-सम्बोधन द्वारा भिन्नता रुपता देखी जाती है। परन्तु ये प्रयोग-ऊच्चारण या मान्यताए स्थूल अथवा औपचारिक द्रष्टि से है। सत्य तो यह है कि सचेतन-पृथ्वी-जल-पवन अथवा एकेन्द्रिय से चतुरेन्द्रिय तक सभी जीवात्माऐ नपुसकता की श्रेणी में गिनी जाती है इसी कारण पाश्चात्य दर्शन में भी-अग्रेजी भाषा में भी उन्हें-HE OR SHE, HIS OR HER द्वारा उच्चारण न कर केवल "IT" शब्द का प्रयोग किया जाता है जो वे बेजान वस्तु के लिये उपयोग मे लाते है। इस लिये शास्त्रोक्त मन्तव्य ठीक है। व्यावहारिकता एक क्षणिक भाव पूर्णता है।

लिंग और वेद में अन्तर

शरीर की आकृति-एक भिन्न वस्तु है। वासना भिन्न शक्ति है। शरीर की शक्ति या वासना में वैसा कोई मुख्य सम्बन्ध नही है। कर्म के मुख्य आठ प्रकारो के अनुसार शरीर की आकृति अथवा स्त्री, पुरुष, नपुसक योग्य अगोपाग द्वारा नामकरण कर्मजन्य होता है। वासना-मोहका उदय अथवा वेदोदय मोहनीय कर्मद्वारा होताहै। मोहनीय कर्म के दो भेद होते है। (१) दर्शन मोह (२) चरित्र मोह।

चरित्र मोह के फिर दो विभाग होते हैं। (१) कषाय मोह (२) नोकषाय मोह। इस मे दूसरे विभाग अर्थात् नोकषाय मोह के नव प्रकार होते है जिनमें से तीन प्रकार तो यही है-स्त्रीवेद-पुरुषवेद--नपुसक वेद।

कर्मोदय के कारण से वासना की क्षणिक निवृत्ति के लिये पुरुष सग की अभिलाषा जागृत हो तो स्त्री वेद कहलाती है। कर्मोदय जन्य वासना की निवृत्ति के लिये स्त्री सग की इच्छा उत्पन्न हो तो वह

पुरुष वेद कहलाता है। और कर्मोदय जन्य तीव्र वासना की तृप्ति के लिये स्त्री पुरुष दोनों के संग की अभिलाषा हो तो इसे नपुंसक वेद कहा जाता है।

पुरुषवेद जन्य वासना देखने में कभी तो मंद, कभी तीव्र होती है परन्तु उस का काल (समय) बहुत थोड़ा होता है। स्त्रीवेद जन्य वासना पुरुषवेद की अपेक्षा बहुत तीव्र और उसका काल भी अधिक होता है अर्थात् वासना की निवृत्ति लम्बे काल में होती है। नपुंसक वेद जन्य वासना बहुत ही तीव्र होती है। यह वासना पूर्ण हो भी जाय-या न भी हो कहा नहीं जा सकता। ऊपरसे वह शान्त दीखे परन्तु अन्दर ही अन्दर सुलगती रहे।

पुरुष जन्य वासना— घासके ढेर में अग्नि के समान,

स्त्री जन्य वासना— गोबर के उपलों की अग्नि समान

नपुंसक जन्य वासना— नगर में लगी प्रचंड अग्नि के समान होती है। ज्ञानियों ने शास्त्रों में इन का ऐसा ही वर्णन किया है।

लिंग में स्त्री से, वेद में पुरुषवेद आदि

शरीर के अंगोपांग का आकार पुरुष के समान हो फिर भी वह वासना में पुरुषवेद हो ऐसा नियम नहीं है। आकृति में पुरुष होकर भी वासना में पुरुष स्त्री, नपुंसक वेदजन्य अर्थात् मंद-तीव्र-तीव्रतर वासना होती है इस पर भी अवेदी अर्थात् सर्वथा वासना रहित पन प्राप्त हो जाता है यह प्रकृति पर निर्भर करता है। इसी प्रकार शरीर की आकृति स्त्री अथवा नपुंसक की होते हुए भी उस में वासनाद्वारा पुरुषवेद स्त्रीवेद—नपुंसक वेद जन्य (मंद—तीव्र—तीव्रतर) वासना भी हो सकती है। इसी प्रकार स्त्री तथा नपुंसक योग्य शरीर होने पर भी सम्पूर्णतया निर्वेदी निर्विकारी भी हो सकता है— ऐसी आत्माएं

मुक्ति की अधिकारिणी भी हो सकती है । पुरुषवेदजन्य वासना सबसे मंद होती है । स्त्रीवेदजन्य वासना उस से अधिक तीव्र होती है और नपुंसक जन्य वासना अत्यन्त तीव्र होती है ।

पाणीग्रहण का आदर्श :

लिंग और वेद और उस में वेदोदय जन्य वासना की तीव्रता अथवा मंदता का जो यहां वर्णन किया गया है वह प्रासंगिक है । क्योंकि वासुदेव त्रिपृष्ठ के पिता राजा प्रजापति द्वारा अपनी ही कन्या से गन्धर्व विवाह का जो प्रसंग है उस मे पूर्णतया वासना की बहुलता ही कारण रूप प्रतीत होती है ।

कलिकाल सर्वज्ञ भगवान हेमचन्द्र सूरि महाराज जैसे समर्थ पुरुषो द्वारा रचित योगशास्त्र आदि में मान्य ग्रंथ मार्गानुसारी के पैंतीस गुणो मे से तीसरे गुणका विवेचन करते हुए प्रसंग मे —

कुलशील समैं सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजः

इस आधे श्लोक द्वारा थोडे से शब्दो मे "पाणीग्रहण किसके साथ करना" इस की स्पष्ट विवेचना की है । पाणीग्रहण करने वाले स्त्री पुरुष दोनो के कुल—गोत्र की समानता, उसी प्रकार शील तथा आचार धर्म की समानता तथा दोनो के गोत्र का भिन्न प्रकार इन सब बातो का मुख्यत्व होना इस छोटे से श्लोक मे स्पष्ट निर्देशन कर दिया है । गृहस्थाश्रम में पाणीग्रहण (विवाह—शादी) का यह प्रसंग वासना के पोषणद्वारा आत्माको अधोगति का अधिकारी बनाने का क्षुद्र प्रसंग मात्र नही है । परन्तु सर्वोत्कृष्ट मानव जीवन प्राप्त होने के बाद—बाल्यावस्था से मृत्यु पर्यन्त त्रिकरणयोगसे पवित्र ब्रह्मचर्य का पालन जिन महानुभावो से अशक्य हो वे महानुभाव पूर्वोक्त तरीके से पाणीग्रहण द्वारा जीवन मे अधिक से अधिक समय

रखते हुए मर्यादित ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जीवन चला सके ऐसी व्यवस्था है । इस प्रकार यह आत्मा उर्ध्वगामी बनी है, और यह तभी सभव है जब त्रिकालदर्शी ऋषि मुनियो द्वारा बताए गए तरीके से, उन्हे अमल मे लाया जाय ।

आधुनिक युग मे तो प्रेम विवाह, आन्तर्जातीय विवाह आदि मोहक शब्दावली द्वारा मोह की भावना द्वारा जो प्रथाए प्रचलित है उनके आवरण मे इन महान महर्षियो द्वारा चलाई गई नीतिया सर्वथा समाप्त प्राय सी हो गई है और भारत की परपरागत पवित्र सस्कृति का कितना परिवर्तन हो गया है । इसे सभी विद्वान समझते है ।

जाति और कुल के ऊपर आत्मा के उत्कर्ष का आधार :

दूसरी आवश्यक बात जो ध्यान मे रखनी अत्यावश्यक है वह है कि आत्मा के आन्तरिक विकास का प्रथम आधार जाति सम्पन्नता और कुल-सम्पन्नता है । दीक्षा लेने वाले-महानुभाव की आत्मा के गुणो का वर्णन करते प्रसग मे शास्त्रकार भगवान हरिभद्र सूरि महाराज ने जातिसम्पन्नता, कुल सम्पन्नता दोनो को प्रथम स्थान दिया है । माता के पक्ष को जाति-और पिता के पक्ष को कुल गिना जाता है । इन दोनो पक्षो मे जितनी पवित्रता होगी, उच्चता होगी उतनी ही मा बाप द्वारा सतान मे सस्कारो की उत्कर्ष पुष्टि होगी । इससे उसके उत्कर्ष मे अनुकूलता प्राप्त होगी । यदि माता पिता के ये पक्ष प्रतिकूल होगे अथवा विकृत होगे तो सतान को भी वैसा ही प्रतिकूल वातावरण और उत्कृष्टता का अभाव प्रतीत होगा । इस प्रसग में तो हमारी भारतीय सस्कृति मे अनेक ग्रथो में-असख्य द्रष्टान्त मिलते है ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव का पापानुबध पुण्य

भगवान महावीर भी सभी कर्मो का क्षय करके महावीर के भव मे निर्वाण पद को प्राप्त हुए । इससे पूर्व कर्मोदय के कारण से

भगवान की आत्मा ने अलग अलग गतियो मे-भिन्न भिन्न स्थानो पर जन्म ग्रहण किया-और ऐसे प्रसग आते रहे । यह सत्य है । परन्तु-पिता के साथ-पुत्री का पाणीग्रहण और ऐसी मृगावती रानी की कोखसे प्रभु की आत्मा का जन्म होना, यह पुण्यानुवधि पुण्य का अभाव ही माना जाएगा । पिताने पुत्री का लावण्य देखकर उसके उपर अपने पापोदय से तीव्र मोह पैदा किया, परन्तु-पुत्री में यदि शील और सदाचार के सस्कारो का स्थान होता तो वह प्राण देकर भी अपने सस्कारो की रक्षा करती, ऐसा दुष्कृत्य प्रसग घटित ही न होता । परन्तु पिता के हृदय मे पुत्री के लिये विकारी मोह की प्रवलता, और पुत्री के हृदय मे आर्य सस्कृति की शिथिलता तथा वासना की उत्कठा इस प्रकार दोनो की अप्रशस्त परिस्थिति होने के कारण-दोनो के बीच पाणीग्रहण का प्रसग वना । ऐसे माता पिता के यहाँ जन्म लेने वाली आत्मा मे पुण्यानुवधि पुण्य की न्यूनता ही कही जाएगी । ऐसा कथन शास्त्र की दृष्टि से योग्य ही है ।

राज राजेश्वर जैसा एश्वर्य या वैभव प्राप्त हो जाने से ही वह सच्चा पुण्य नही कहलाता । परन्तु इस ऐश्वर्य के मिलने के साथ साथ विशुद्ध जाति, और कुल की प्राप्ति हो तभी आत्माका उत्कर्ष समजना चाहिये । तभी यह वास्तविक पुण्य कहलाता है ।

वासुदेव का भव यह नियाणा द्वारा प्राप्त ही जीवन होता है । और इस का मुख्य कारण पापानुवधी पुण्य होता है । ऐसे सजोगो मे भगवान महावीर प्रभु की आत्मा भी विश्वभूति के भव मे किये गए नियाणा रूप पिता द्वारा पुत्री के साथ किये गए पाणी-ग्रहण द्वारा मृगावती की कोख से उत्पन्न हुए-इसमें आश्चर्य की कोई बात नही है ।

त्रिपृष्ठ के बडे भाई का नाम अचलकुमार था । और उसकी माताका नाम भद्रा था । भद्रा रानी भी प्रजापति की पत्नी

थी। और कुलीन कुल की थी और ऐसी कुलीन रानी के गर्भ से अचलकुमार का जन्म हुआ यह उस के पुण्यानुबंधी पुण्य का ही वल था। जिस प्रकार वासुदेव "पापानुबंधी पुण्यवान" आत्मा होती है और नरक गति की अधिकारिणी होती है, उसी प्रकार उसमे ठीक विपरीत बलदेव "पुण्यानुबंधी पुण्य" का अधिकारी होने के साथ स्वर्ग अथवा मोक्ष का अधिकारी होता है। अतरंग जीवन दोनो का पूर्णतया विरोधी स्वरूप वाला होते हुए भी उन का बाह्य सम्बन्ध और जीवन बहुत स्नेहमय, अवर्णनीय होता है, हर एक काम मे दोनो भाई एक साथ रहते हैं और दोनो में आपसी अथाह प्रेम होता है।

वासुदेव का जीवन और प्रतिवासुदेव का जीवन इन दोनो में काफी प्रतिस्पर्धा रूप होता है। प्रतिवासुदेव तीन खड का ऐश्वर्य अनेक प्रकार के परिश्रम के बाद प्राप्त करता है, जब इस ऐश्वर्य का भोग करने का समय आता है तो उस समय तक तो वासुदेव का जन्म हो चुका होता है और यह वासुदेव यौवन के प्रागण में प्रवेश करते ही प्रतिवासुदेव का सिर काट देता है और उस का प्राप्त हुए सारे ऐश्वर्य तीनो खडों के ऐश्वर्य को अपने अधीन कर लेता है। इस लिये त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव का निरीक्षण करने के साथ साथ उसी काल के प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव का सक्षिप्त वृतान्त भी देखे।

श्रमण भगवान महावीर का अठारहवां भव

त्रिपृष्ठ वासुदेव

प्रसंग २५—प्रति वासुदेव अश्वग्रीव का जीवन वृतान्त

उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी का प्रभाव.

प्रति वासुदेव अश्वग्रीव शास्त्रीय द्रष्टि से इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में ६ खडो मे से दक्षिण दिशा वाले तीन खडो का स्वामी था। रत्नपुर नगर उसकी राजधानी था। उसकी काया का प्रमाण अस्सी धनुष (३२० हाथ) और आयु प्रमाण चौरासी लाख वर्ष पूर्व था। वह अत्यन्त शूरवीर पराक्रमी और रण सग्राम का शौकीन था।

वर्तमान काल में कितने ही भाइयो को ३२० हाथ की काया प्रमाण और चौरासी लाख वर्ष की आयु की बात सुनकर अत्यधिक आश्चर्य होता है-वे इस में श्रद्धा नही रखते। यह स्वाभाविक ही है। परन्तु आज से सौ दो सौ या चार सौ वर्ष पहले का इतिहास यदि पढें तो आज की आयु और शरीर प्रमाण से उस समय के शरीर और प्रमाण में काफी अन्तर स्पष्ट मिलता है। इसी प्रकार असख्य वर्षो पूर्व के मानवो का आकार अथवा आयु में असख्य वर्षो के कारण अन्तर द्वारा विश्वास न करने का कोई कारण नही दीखता। शास्त्र की द्रष्टि से भरत आदि दस क्षेत्रो में अवसर्पिणी यात

उत्सर्पिणी नामक दो काल कहे गए है । जिसकाल मे धन-धान्य भूमि का रस-कस-काया तथा आयुष्य प्रमाण अनुक्रम से कम से कम होता जाए उसे अवसर्पिणी काल कहते है । और जिस काल मे धन, धान्य, आयुष्य आदि में क्रमश वृद्धि होती जाती है उसे उत्सर्पिणी काल कहा जाता है । वर्तमान में अवसर्पिणी काल मे शरीर का तथा आयु का प्रमाण दिनप्रतिदिन कम होता जा रहा है ।

कुशल दैवज्ञ से प्रति वासुदेव का प्रश्न पूछना

प्रति वासुदेव अश्वग्रीव तीन खडो का स्वामी था । एक वार उसके मनमें विचार उठा " भरतक्षेत्र के दक्षिण अर्धभाग में जितने भी राजा है वे सव तो मेरे अधीन है । इन सभी राजाओ मे भी किसी से मुझे कोई भय नही है । इन राजाओ मे किसी के ऐसा कोई पुत्र नही जो मुझ से अधिक वलवान हो, अधिक पराक्रमी हो और भविष्य में मेरे इस तीन खडो के राज्य को रण सग्राम में जीत सके और अपने अधीन कर सके । यदि ऐसा कोई है तो उसका पता करना चाहिये ।

इस प्रकार से विचार कर वह सोचने लगा । दैवयोग से " अष्टाग " निमित्त का जानकार कोई दैवज्ञ (ज्योतिषि) उसे मिल गया ।

प्रति वासुदेव अश्वग्रीवने अपने दिल में उठे विचार और शका उस के समक्ष रख दी और पूरा खुलासा कर पूछा " मेरी मृत्यु किस के द्वारा होगी " ?

वह दैवज्ञ (ज्योतिषि) ज्योतिष शास्त्र मे परिपूर्ण और कुशल ज्ञानवान था । इस प्रश्न को सुनकर वह सोच मे पड गया क्योकि

प्रति वासुदेव का भावी अनिष्टकारी था, अपने ज्ञान द्वारा उसने सब कुछ जान तो लिया परन्तु कहने से सकुचाने लगा ।

ज्योतिषि के चेहरे पर इस प्रकार के भाव देखकर अश्वग्रीवने उससे सबकुछ सत्य सत्य कहनेका बहुत आग्रह किया । बहुत अनुरोध देखकर उस दैवज्ञ ने कहा " राजन् ! आप के राजदूत चण्डवेग को जो राजकुमार पराजित कर देगा, तथा आप के शालिक्षेत्र के रक्षणार्थ भेजे गए राजकुमारो मे से जो वहा रहते केशरी सिंह का मर्दन कर देगा उस राजकुमार के हाथों मे आपकी मृत्यु होगी । "

ऐसे स्पष्ट वक्ता दैवज्ञ (ज्योतिषि) जिस का वचन सदा सच्चा उतरता था उसके मुख मे यह सब सुनकर अश्वग्रीव मन ही मन में भयातुर हो गया परन्तु बाह्य रूप मे मुख की प्रसन्नता दिखा कर उसने दैवज्ञ को दान दक्षिणा आदि देकर विदा किया ।

अष्टाग निमित्त का ज्ञान या विशिष्ट श्रुतज्ञान है

पाच प्रकार के ज्ञान मे अवधिज्ञान, मन पर्यवज्ञान और केवल ज्ञान ये तीन प्रत्यक्ष ज्ञान कहलाते है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनो परोक्ष ज्ञान कहलाते है । पहले तीन प्रत्यक्ष ज्ञान, ज्ञानद्वारा इन्द्रिय और मन की सहायता से सीधे सीधे आत्मा को अपनी अपनी विषय मर्यादा के अनुसार द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रत्यक्ष होने से होते है । परन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान इन्द्रियो के तथा मन की मदद से मर्यादित विषयो के परोक्ष अवबोध द्वारा ही प्राप्त होते है । इतना होते हुए भी मति और श्रुत ज्ञान का विशिष्ठ क्षयोपशम हो तो इस ज्ञान के द्वारा भूतकाल और भविष्यकाल के भावो का वास्तविक ज्ञान आत्मा को प्राप्त हो जाता हे । श्रुतज्ञान के अनेक भेदो में से एक अष्टाग निमित्त का ज्ञान भी है, इसलिये यह भी श्रुतज्ञान है ।

यदि किसी—इस अष्टांग निमित्त विषयक शास्त्रोंका महानु-भावको सुन्दर अभ्यास हो तथा उस का अनुभव भी हो तो उस महानुभाव की भविष्यवाणी बराबर सच्ची पडती है ।

प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव ने जिस दैवज्ञ से वह प्रश्न किया था वह उसी विशिष्ट कक्षा का ज्योतिषि था । ज्ञानवान था । उसको मुखसे निकलती भविष्यवाणियां सदा सच्ची निकलती थी । उसके मुखसे अपना भविष्य सुनकर और अनिष्टकारी प्रसंग सुनकर अश्व-ग्रीव का मन भय से कांप उठा । इस में आश्चर्य की क्या बात ?

प्रतिवासुदेवका आर्तध्यान :

कोई भी क्यों न हो—भिन्न भिन्न प्रकार के प्रयास—पुरुषार्थ—कष्टों द्वारा पापस्थानकों से इकठ्ठी की हुई विशाल राज्य सम्पत्ति प्राप्त करने के बाद जब उसका वियोग सामने आता है, तो उस व्यक्ति को अत्यन्त दुख होता ही है। परन्तु भविष्य कालमे विशाल राज्य संपत्ति के वियोग की बात सुनकर अपनी मृत्यु संबधी शब्दो को सुनकर अच्छे से अच्छा कठोर दिलवाला भी कांप उठता है—आर्तध्यान करने लगता है। यदि ऐसे समय मे उस प्राणी के हृदयमें थोडा बहुत सम्यग् ज्ञान का प्रकाश हो और इस प्रकाश के कारण "नित्य संयोगी" "अनित्य संयोगी" भावो का अवबोध उसे प्राप्त हुआ हो, तो फिर उसमें आर्तध्यान का प्रसंग नही उठता । और यदि कभी ऐसा हो भी जाय तो उसका समय अल्प होता है । परन्तु जिस व्यक्ति यह सम्यग्ज्ञान का जरा भी प्रकाश या बोध न हो, उनमें नित्य संयोग-अनित्य संयोगपन का भ्रम होने से पौद्गलिक साधनोंकी अनुकूलता में ही सुख की कल्पना होगी, और उनकी प्रतिकूलतामे दुखो की कल्पना होने से एसे प्रसंगो में आर्तध्यान के बाद रौद्रध्यान भी प्रगट हो जायगा और परिणाम स्वरूप वह आत्मा नरक गति को प्राप्त कर लेगी ।

दैवज्ञ के शब्दो की परीक्षा के लिये प्रतिवासुदेव का प्रयास

प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव के हृदयमे--अन्त करणमे दैवज्ञ के शब्दों को सुनकर अज्ञान दशाके कारण आर्तध्यान का प्रारम्भ हो गया । वह विचार करने लगा, "अरे ! क्या यह राजकुमार मेरी अथाह सम्पत्ति वैभव मुजसे छीन लेगा ? मै इतना पराक्रमी हूँ और एक साधारण सा राजकुमार मुझे मार देगा " रातदिन इस प्रकार के विचार आने लगे । उसने निश्चय किया कि दूत का पराभव और केसरी सिंह की मृत्यु इन दैवज्ञ की कसौटियों को तो परखा जाए ?

उसने तुरन्त अपने राजदूत चडवेग को वुलाया । और उसे त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता राजा प्रजापति की तरफ रवाना किया । राजा प्रजापति वेशक खुद महान साम्राज्य का स्वामी था । फिरभी तीन खड के स्वामी प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव की आज्ञा शिरोधार्य की । जव चडवेग राजधानीमें पहुचा तो राजा प्रजापति अपने दरवारमें स्वर्ण सिंहासन पर विराजमान था । एक वाजू के आसन पर त्रिपृष्ठ वासुदेव और दूसरे वाजू आसनपर वलदेव अचलकुमार आसीन था । महामात्य--मत्री--उपमत्री- सेनापति--नगरसेठ तथा दूसरे छोटे वडे अधिकारी और श्रीमत प्रजाजन सभी उपस्थित थे । नर्तकियों व सगीतकारों की युगलवदीमें नाच मुजरा चल रहा था । सभी इस नाच--सगीत में डूवे हूए थे । ठीक ऐसे समय में प्रतिवासुदेव अश्वग्रीवका दूत चडवेग विना पूर्व सूचना के ऐसे ही राज्य सभामें प्रविष्ट हो गया । राजा इस चडवेग को जानता था । अकस्मात् दूत के सभामें आ जाने से राजा भ्रम में खडा हो गया और दूत का स्वागत किया और उसे योग्य आसन दे कर राजाने दूत से अश्वग्रीव का कुशल समाचार पूछा । परन्तु राज्य सभा में दूत के

अचानक प्रवेश के कारण नाच गुजरा संगीत मे भगपड गया। इससे त्रिपृष्ठ वासुदेवके मनमें दूत के प्रति क्रोध भर गया। बाजू में ही वह दूत बैठा था। उस वासुदेव के मनमे यह उत्कठा उठी कि "यह दूत है कौन ? कहा से आया है ? पिताजीने उसका इतना आदर क्यो किया है ?

उसने यह हकीकत जान ली कि यह तीन खड के स्वामी अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव का दूत है, भरत खड के इन तीन खडो के सभी राजा महाराजा इसके अधीनस्थ है अपने राजा भी इनके सेवक माने जाते है—इस लिए इस दूत को इतना मान दिया गया है। यही कारण है कि उसके आगमन से तुरन्त—राजा को उठना पडा और रागरग की महेफिल वद करनी पडी।

त्रिपृष्ठ द्वारा चडवेग का पराभव

त्रिपृष्ठकुमार तो वासुदेव का अवतार था। प्रतिवासुदेव की अपेक्षा उसमें पुण्यवल और शक्तिवल दोनो की मात्रा अधिक होती है। वासुदेव की आत्मा मे शूरता का वल अखड था। त्रिपृष्ठ कुमारने यह सब हकीकत उस आदमी से जानकर अत्यन्त क्रोध का अनुभव किया, मन ही मनमें और वह सोचने लगा "मेरे पिता चाहें प्रतिवासुदेव की आज्ञा को शिरोधार्य करें और उस के दूतको इतना मान आदर दें, परन्तु मैं तो कीसी भी अवस्था मे उसकी पराधीनता स्वीकार करन को तैयार नही हूँ इतना ही नही ईस उदड दूतने हमारे मनोविनोद में जानवूज कर हठपूर्वक विघ्न पैदा किया, इसकी सजा तो मैं ईसे दूगा ही।"

उस प्रकार का निश्चय मन ही मन कर-वह राज्य सभासे उठ कर चला गया और उसने एक योजना वना ली। पहले से विचारे हुए सकेत के अनुसार जब चडवेग दूत-राजा द्वारा दी गई

भेंट लेकर-प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव के पास लौटने लगा तो-त्रिपृष्ठ कुमार ने मार्ग में ही उसे रोक लिया और उस को लूट लिया, तथा अनेक प्रकार के-अपशब्द और लताडना देकर अपमानित कर दिया । यह समाचार जब अश्वग्रीव को मिला तो वह क्रोध मे भर गया । चडवेग के पहुँचने से पूर्व ही भागे हुए सैनिको से यह समाचार मिला था । चडवेग ने पहुचकर महाराज प्रजापति द्वारा-दिये गए मान-आदर और भेंट के बारे में उनकी सराहना की, परन्तु दूसरी ओर त्रिपृष्ठकुमार द्वारा किया गया अपना अपमान-अनादर और लूट जाने का पूरा वर्णन किया । इस प्रकार दैवज्ञ द्वारा की गई भविष्यवाणी की प्रथम बात सच्ची मान कर अश्वग्रीव मन ही मन अत्यन्त व्याकुल हो गया ।

त्रिपृष्ठ कुमार द्वारा सिंह की दुर्दशा :

दैवज्ञ द्वारा-दूसरी भविष्यवाणी की कसौटी "सिह की मृत्यु" प्रकरण की सच्चाई देखने के लिये प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव का मन मचल उठा । जिस प्रदेश में वह केसरी सिह रहता है, वहा के किसानो को अत्यन्त असुरक्षा आदि है । ऐसी घोषणा कर अपने अधीनस्थ राजाओ के राजकुमारो को बारी बारी से वहा पहरे पर बिठा रखा था । अब, अश्वग्रीव ने प्रथम भविष्य की सत्यता को जाने कर-महाराज प्रजापति को इस शालिग्राम की रक्षा हेतु पक्का इरादा कर-सदेश भेजा । प्रजापति-अश्वग्रीव की आज्ञानुसार इस प्रदेश की सुरक्षा के लिये जाने को तैयार हो गया तभी-बलदेव अचलकुमार और वासुदेव त्रिपृष्ठकुमार दोनो ने राजा प्रजापति से आग्रह किया और पिताजी को वही जाने से रोक दिया । वे दोनो केसरी सिह के भय से उस प्रदेश की जनता की सुरक्षा के हितार्थ दोनो भाई उस दिशा की ओर प्रयाण कर गए ।

सिंह के रहने के स्थान पर पहुच कर-निर्भय सोए सिंह को देख कर उसे जागृत करने के लिये-त्रिपृष्ठ कुमार ने सिंह से भी भयानक गर्जना की । यह भीषण गर्जना सुनकर-वह सिंह क्रोध से भरकर तुरन्त अपनी गुफा से बाहर निकला और अपने सामने दो राजकुमारो को खडा देखकर सिंह ने भी प्रत्युत्तर मे भीषण गर्जना की । दिशाए उस ध्वनि मे कपायमान हो गई । उसने अपनी पूछ जोर से पृथ्वी पर पटकी और कुमार के ऊपर छलाग मारने को उद्यत हुआ । त्रिपृष्ठ कुमार-अचल कुमार को आगे बढने से रोक कर अकेले ही रथ पर से-उछलकर-अकेले ही सिंह के समक्ष जा खडा हुअे । "सिंह के पास तो शस्त्र नही है, फिर मैं अपने हाथ मे शस्त्र क्यो धारण किये रहू" यह विचार कर उसने अपने शस्त्र एक बाजू रख दिये । और वह नि शस्त्र होकर सिंह का सामना करने के लिये तैयार हो गया । जैसे ही सिंह ने त्रिपृष्ठ कुमार पर आक्रमण किया-उसने अपने दोनो हाथो से उसके दोनो जबडो को मजबूती से पकड लिया और अपने पूर्ण बल को समेट कर-जिस प्रकार वस्त्र को खीचकर फाड दिया जाता है-उसी प्रकार सिंह का जबडा-फाड दिया । दूर दूर से देखने वाले हजारो लोगो ने कुमार के इस पराक्रम को देख कर जय-जयकार करना शुरु किया । यह सुनकर सिंह सोचने लगा-" मैं जगल का राजा हूँ-केसरी सिंह के नाम से प्रख्यात हूँ-आश्चर्य है कि इस छोटे से राजकुमार ने नि शस्त्र ही मेरा वध करने मे सफलता पायी है, वह सिंह तडफने लगा । इसी समय-त्रिपृष्ठकुमार का सारथी उस तडफते सिंह के पास आ गया और उसने सिंह की मनोदशा को जान कर सान्त्वना के रूप ये शब्द कहे । हे केसरी सिंह ! तू यह समजता है कि ये राजकुमार सामान्य राजकुमार है ? इनके द्वारा मृत्यु पा कर तेरी अन्तरआत्मामे मनोवेदना-अनुभव हो रही

है ? परन्तु यह तेरी धारणा ठीक नहीं है । तू जिस प्रकार जंगल का राजा है उसी प्रकार ये कुमार भी थोडे समय में वासुदेव रुप में तीन खंड पृथ्वी के राजाधिराज होने वाले है, तेरी मृत्यु किसी साधारण राजकुमार के हाथ से नहीं हुई इस लिये तेरी तडफना-और मनोवेदना करना-कोई प्रयोजन नही रखता । "

सारथी का यह आश्वासन और सान्त्वना पा कर सिंहराज शान्त हो गए और आयुष्य पूर्ण कर नरक गति को प्राप्त हो गए । राजकुमार त्रिपृष्ठकुमार भी अपने बडे भाई अचलकुमार के साथ अपनी राजधानी को लौट आए । प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव ने जब सिंह की मृत्यु का समाचार सुना तो दैवज्ञ की बात सच मानते हुए उस के हृदय में महान संताप तथा चिन्ता प्राप्त हो गई ।

त्रिपृष्ठ के साथ स्वयंप्रभा का विवाह

अष्टांग निमित्त के जानकार द्वारा की गई दोनो भविष्यवाणियां सत्य होकर स्पष्ट हो गई । इस प्रकार अपनी मृत्यु की निश्चितता का ज्ञान होने से प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव का चिन्तित होना तो स्वाभाविक था ही । उसकी आत्मा को कहीं भी शान्ति प्राप्त नही हो रही थी । दिन रात वह अशान्त रहने लगा । इसी बीच अपनी आज्ञा में रहते विद्याधर ज्वलनजटी ने अपनी योग्य आयु को प्राप्त हुई कन्या स्वयंप्रभा का पाणीग्रहण त्रिपृष्ठकुमार के साथ करने का निश्चय किया । यह समाचार जब प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव को मिला तो उस का अन्त करण प्रचंड क्रोध की अग्नि से जल उठा । इस के बाद उन के मन की अशान्ति और भी बढ गई । वह सोचने लगा " मेरी आज्ञा में रहनेवाला विद्याधर अपनी पुत्री का विवाह मेरे साथ न कर दूसरे के साथ करे यह कैसे हो सकता है" ?

विद्यावर ने किसी प्रकार से अपनी पुत्री स्वयप्रभाका पाणीग्रहण त्रिपृष्ठ के साथ कर ही दिया। परन्तु त्रिपृष्ठकुमार ने क्यो विद्याधर पुत्री से पाणीग्रहण किया? उसके मनमे यह विचार क्यो नही आया कि विद्यावर कन्या उसके योग्य नही है यह तो प्रति वासुदेव के अन्त पुर मे ही रहने योग्य थी? कुमार यह सोच नही सका।

अश्वग्रीव सोचने लगा "त्रिपृष्ठ या विद्यावरने जो कुछ भी किया परन्तु यह स्त्रीरत्न स्वयप्रभा केवल मेरे ही योग्य है इस लिये इसे मैं अपने ही अत पुर में रखूगा तभी मैं प्रतिवासुदेव हुआ सच्चे अर्थ मे?

इस प्रकार निर्णय करके अश्वग्रीवने अपने दूत को बुलाय और उसे त्रिपृष्ठ के पास यह आज्ञा कर भेजा कि वे स्वयप्रभा को उसके सुपुर्द कर दें।

पूर्व संचित प्रारब्ध के कारण निमित्त का होना

"विनाश काले विपरीत बुद्धि" यह कथन जगत् प्रसिद्ध है। अशुभ उदय के कारण जीवन मे जब अनिष्ठ होना होता है तो उस मानव के मस्तिष्क मे, बुद्धि मे परिवर्तन हो जाता है। प्रतिवासुदेव को बुद्धि मे इसी प्रमाणमे विपरीत पना आ गया था। जगत् मे नियम के अनुसार कन्या को मागना तो उचित है परन्तु पाणीग्रहण की हुई पत्नी को मागना महापापकारी कृत्य कहा जाता है।

प्रति वासुदेव अश्वग्रीव का दूत त्रिपृष्ठ कुमार के पास पहुचा, और अपने स्वामी की आज्ञा-सदेशा इस क्षत्रिय कुमार को सुनाया। त्रिपृष्ठ कुमार तो वासुदेव का अवतार था और उस के प्रारब्ध

द्वारा उसे वासुदेव की उपाधि प्राप्त करने का समय अति निकट आ रहा था। इसी प्रकार प्रतिवासुदेव के अन्तका समय आ गया था, इस प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन मे जैसा प्रारब्ध लिखा होता है वैसे ही निमित्त स्वयमेव प्रत्यक्ष हो जाते है। प्रतिवासुदेव के दूत के ये शब्द (संदेशा) सुनकर त्रिपृष्ठ कुमार के लिये निमित्त रुप बने। और यही शब्द (मागनी) प्रतिवासुदेव की मृत्यु का कारण बनी।

वासुदेव—प्रतिवासुदेव युद्ध—वासुदेव विजय

दूत के मुख से प्रतिवासुदेव का सदेशा सुनकर ही उसके निर्लज्जता पूर्ण माग के कारण त्रिपृष्ठ का खून उबाल खा उठा और उस दूत का अनादर कर उसे वहा से धक्के मार मार कर निकाल दिया। दूतने अपने स्वामी के पास जा कर अपने अनादर और त्रिपृष्ठ के व्यवहार को निन्दा की। और इस प्रकार जानकर अश्वग्रीव का हृदय क्रोध से भर गया। उसने रण सग्राम द्वारा त्रिपृष्ठ की मृत्यु का स्वयप्रभा को अपने अन्त पुर मे जबरदस्ती लाने का निश्चय किया। विशाल सेना तैयार कर, अश्वग्रीव क्रोध से भरा त्रिपृष्ठ की सीमा में आ पहुचा। त्रिपृष्ठ कुमार को रण सग्राम से अति प्रेम था, उस में वीरता और शौर्य कूट कूट कर भरा हुआ था। पिता की आज्ञा लेकर अपने सैनिको को इकट्ठा कर त्रिपृष्ठ कुमार भी रण सग्राम मे आ पहुचा। रण सग्राम में भीषण युद्ध प्रारम्भ हो गया—अगणित सैनिक मारे गए और दोनो वीर आमने सामने रण सग्राम मे आ गए। अश्वग्रीव ने क्रोध ही क्रोध मे अपना चक्ररत्न त्रिपृष्ठ कुमार पर फैंका परन्तु पुण्यबलकी महानता के कारण त्रिपृष्ठ पर क्षणिक सी मूर्छा ही आई और वह चक्र उसकी दूसरी कोई हानि न कर सका। त्रिपृष्ठ ने इसी चक्र को अपने हाथ में लेकर उसे मत्रसिद्ध कर अश्वग्रीव पर फैंका।

अपने ही चक्र से-अश्वग्रीव का सिरच्छेद हो कर वह पृथ्वी पर गिर गया और मर कर सातवे नरक मे गया । इसी समय आकाश मे एकत्रित हुए (इस रण सग्राम को देखने वाले) देवताओ ने जय-जयकार किया । वासुदेव के सात रत्न-शख-धनुष-कौमुदी-गदा-आदि जो रत्न बाकी थे उसे सौप दिये और त्रिपृष्ठ कुमार को वासुदेव रुप होने की घोषणा की और इस प्रकार-आजतक-प्रति-वासुदेव अश्वग्रीव के अन्तर्गत राजाओं ने त्रिपृष्ठ महाराज को अपना वासुदेव स्वीकार किया ।

इस प्रकार भगवान महावीर का यह अठारहवा भव का वासुदेव रूपप्रारंभ हुआ ।

१

श्रमण भगवान महावीरका अठारहवां भव

श्रमण भगवान के सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के वाद मे मोक्ष प्राप्ति तक के स्थूल सत्ताइसवे भवो के वर्णन के अतर्गत अठारहवे भव का वृतात-अध्याय-७-८ से चालू है । प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव का त्रिपृष्ठ कुमार ने रण सग्राम मे वध कर दिया । देवताओ ने त्रिपृष्ठ कुमार पर पुष्प वृष्टि की । उन्हे वासुदेव घोषित किया और तीनो खडो के राजा महाराजाओ ने उसकी अधीनता स्वीकार की । उनके चरणो में प्रणाम किया और अपने अपराधो के लिये क्षमा याचना की । त्रिपृष्ठ महाराज ने सभी राजाओ को सान्त्वना देकर-अपने अपने राज्य का पालन करने की आज्ञा दी । उनकी आज्ञा को शिरोधार्य कर सभी राजा अपने अपने राज्यो को लौट गए ।

सुख का अनन्य साधन धर्म है

त्रिपृष्ठ वासुदेव ने इसके वाद अपने नगर में आकर, वासुदेव नाम कर्म के अनुसार अपने भाई वलदेव अजन्मकुमार को-साथ लेकर-सातो रत्नो के साथ भरतखड के तीन खडो को साधने हेतु महाप्रयाण किया ।

लवण समुद्र के निकट आ कर—पूर्व दिशा मे मगध देवकी, दक्षिण दिशा मे वरदाम देव की, पश्चिम दिशा मे प्रभास देव की, सधिना की । उस के वाद वैताढ्य पर्वत पर रहने वाली विद्याधर

देवो की रहने वाली दोनो श्रेणियो पर अपने वल द्वारा सावना प्राप्त की । और अपने श्वसुर "ज्वलन जटी" विद्याधर को उनकी व्यवस्था के लिये नियुक्त किया । वैताढ्य पर्वत के दक्षिण भूभाग पर लवण समुद्र तक त्रिखंड का एक छत्र राज्य प्राप्त कर अपनी राजवानी पोतनपुर की ओर चला ।

चलते चलते मार्ग मे अपने परिवार के साथ मगव देश में पहुचा । वहा एक विशाल शिला को-जिसे हजारो लोग एक साथ मिलकर भी हिला नही सकते थे, अपनी वनशक्ति का प्रदर्शन करने के हेतु उठा कर एक ओर फैंक दिया । वासुदेव का यह वल देख कर लोगो को अत्यन्त आश्चर्य हुआ । चक्रवर्ती को अपने पुण्यवल के कारण चौदह रत्न प्राप्त होते है, परन्तु वासुदेव को केवल सात रत्न ही प्राप्त होते है, चक्रवर्ती के शरीर मे जितना वल होता हैं वासुदेव में उससे ठीक आवा वल होता हैं । चक्रवर्ती अथवा वलदेव दोनो ही वेशक पुरुष होते हैं । परन्तु उनकी सेवामें हजारो देवगण सदा रहते है ऐसा वढा हुआ प्रभाव जिसे प्राप्त होता है उस का मुख्य कारण तो पूर्वजन्म में किया हुआ धर्म आरावन ही तो होता है । अभ्यन्तर सुख और मोक्षकी सावना में धर्म ये दो तो अनन्य सावन है ही । परन्तु शारीरिक वल, धन-दौलत की प्राप्ति और राज राजेश्वर का अधिकार व अनुकूलता आदि वाह्य सुख के साधन भी धर्म की आरावना और उसके द्वारा उत्पन्न पुण्योदय द्वारा ही प्राप्त होते है ।

श्रुत केवली भगवान शय्यभव सूरि महाराजने दशवैकालिक सूत्र मे प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा मे एक वात स्पष्ट कही है

"देवावि त नमसंति जस्स धम्मे सया मणो"

जिस महानुभाव के मन मदिर में वर्म का प्रकाश और सचित किया हुआ पुण्यफल विद्यमान है, इस महानुभाव के चरणो मे

स्वर्गलोक के देवता भी नमस्कार करते हैं । व्यवहार और निश्चय इन दो प्रकार से किया धर्म शुद्ध होता है । वह धर्म आत्मा को स्वर्गादि सुखो की परपरा के परिणाम स्वरूप मोक्ष को पहुचाता है। यही धर्म यदि अनरग दृष्टि से अशुद्ध हो तो अमुक समय तक बाह्य सुख की अनुकूलता प्राप्त कर लेने के बाद परिणामतया आत्मा दुर्गति को प्राप्त होती है ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव की आत्मा को वर्तमान भव मे जो तीन खड का ऐश्वर्य प्राप्त हुआ वह शुद्ध धर्म के कारण प्राप्त हुआ ऐसी बात नही । परन्तु साथ साथ अशुद्ध धर्म का कारण भी था । इसी कारण तो वासुदेव भव की पूर्णाहुति के बाद वह नरक गति का भागी होता है । आगे के प्रकरणो मे इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है । सोलहवे भवमें विश्वभूति के भवमें सयम और तपकी सुन्दर आराधना होते हुए भी—विशाखनदी द्वारा किये गए—उपहास के निमित्त मिलते ही इस मुनि ने उग्र अशुद्ध भावसे नियाणा किया "मेरे सयम और तप के फलस्वरूप भविष्य में मनुष्य जीवन मे मैं अत्यन्त बलशाली बनू और अपने उपहास करनेवाले से बदला लू" ।

सयम और तप ये मोक्ष साधक शुद्ध धर्म है । फिर भी पहले किये हुए नियाणे के अनुसार आवेश भरी अनिष्ट वृत्ति के कारण यह सयम और तप के फलस्वरूप उसे विशिष्ठ बलकी प्राप्ति हो गई, और इस बल प्राप्ति द्वारा वही शक्ति दुर्गति का कारण बन गई । यह बात तो केवल प्रासगिक है । मूल बात तो यह है कि जीवन मे किसी भी प्रकार को वर्तमान सुख की अनुकूलता का मुख्य कारण धर्म सिवाय और कोई नही ।

वासुदेव का राज्याभिषेक

त्रिपृष्ठ वासुदेव नगरमे पहुचा। नगर की प्रजाने अपने मालिक राजाधिराज का पूर्ण श्रद्धा हार्दिक से नगर प्रवेश करवाया। राजभवन में प्रवेश कर राजदरवार म शोभित मणिरत्न जटित स्वर्ण सिहासन पर उन्हे विराजमान किया, और महा मत्रीश्वर--नगरसेठ-सेनाधिपति-आदि अधिकारी वर्ग आदि ने उनका विधिवत् राज्याभिषेक किया। देवताओंने भी इस शुभ कार्य मे यथा विधि साथ दिया। अचलकुमार को वलदेव रुपमे अभिषेक किया गया, और इस प्रकार त्रिपृष्ठ आनन्द के साथ राज्य सुख भोगता हुआ अपना ऐश्वर्य भोग करता समय व्यतीत करने लगा।

पोतनपुर में भगवान श्रेयांसनाथ का आगमन

त्रिपृष्ठ वासुदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल मे होने वाले नव वासुदेवो में प्रथम वासुदेव था। इस समय इस अवसर्पिणी कालमें होने वाले चौवीस तीर्थ करो में से ग्यारहवें तीर्थ कर भगवान श्रेयासनाथ प्रभुका शासन काल चल रहा था। जिस समय त्रिपृष्ठ को तीन खडका सौभाग्य मिला-इसी समय भगवान श्रेयासनाथ के धाती कर्मो का क्षय और केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई। इस लिये वे सर्वज्ञ महाप्रभु श्रेयासनाथ केवली रूप में गाव गाव विचरण करते हुए पोतनपुर नगर में पधारे। देवताओ ने वहा समवसरण की रचना की। वन पालकने राजाधिराज त्रिपृष्ठ को भगवान के आगमन की सूचना दी। प्रभुके आगमनकी सूचना मिलते ही वासुदेव अत्यन्त प्रसन्न हुआ और समाचार देने वाले वनपाल को एक करोड सोनैया (सोनेका सिक्का) दान मे दिया। और वह अपने भाई अचलकुमार--सम्वन्धियो--ज्ञानियो तथा सम्पूर्ण वैभव का प्रदर्शन लेकर प्रभुका दर्शन

करने पहुचा । प्रभुकी तीन प्रदर्शना करके--वन्दना कर--वह अपने योग्य आसन पर बैठ गया-तब-प्रभुने-धर्म देशना प्रारम्भ की ।

प्रभु की देशना और सवर--निर्जरा का स्वरूप

भगवान श्रेयासनाथकी धर्मदेशना मे सवर--निर्जरा तत्वकी प्रधानता थी । कर्म स्कन्धो का आत्म प्रदेशो के साथ अमुक प्रमाण मे जब तक सबन्ध होता है और नए नए कर्म स्कन्धो का ग्रहण चालू रहता है--तब तक आत्माको मुक्त अवस्था प्राप्त नही होती । तथा जन्म--मरण आदि दुखो की परपरा चालू रहती है । मुक्त अवस्था का असाधारण कारण सवर और निर्जरा होते है । सवर और निर्जराका कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं । सम्यग् दर्शन आत्मा का शुद्ध उपयोग अथवा शुद्ध चेतना को कहते है ।

सम्यग् चारित्र भी आत्मा की शुद्ध चेतना ही होती है । जितनी जितनी मात्रा में आत्माका शुद्धोपयोग और शुद्ध चेतना उतने--ही प्रमाणमें कर्मो का सवर और सकाम निर्जरा प्रकट होती है । किसी भी प्रकार के सुविहित धर्मानुष्ठान का शुद्ध ध्येय सवर और निर्जरा कहलाता है । इस प्रकार से--आत्मा सर्व कर्म रहित हो कर मुख्य अवस्थाको प्राप्त होती है । यह सब प्रकार की अनुकूलता मनुष्य जीवन के सिवाय और किसी दूसरी अवस्था मे प्राप्त नही होती है ।

मनुष्य जीव ने चक्रवर्तीपन अथवा वासुदेव पद पुण्ययोग से यदि प्राप्त हो जाय तो यह सब वैभव-अनित्य सयोगी होता है । सम्यग् ज्ञान-सम्यग् दर्शन-सम्यग् चारित्र ये आत्मा के स्वतत्व है । और इस प्रकार क्षायिक भाव से यदि ये गुण आत्मा में प्रकट हो जाए तो पीछे अनन्त काल तक ये गुण आत्म मदिर मे सदा ही अवस्थित रहते है । कर्म के "औदयिक" भाव से किसी भी प्रकार

की अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री जीवन में प्राप्त होने के बाद संवर और निर्जरा करनेवाली स्वभाव दशा में आत्मा की रमणता टिक जाए यह जीवन धन्य धन्य हो जाता है।

त्रिपृष्ठ वासुदेव को फिर सम्यक्त्व प्राप्ति :

भगवान श्रेयांसनाथ की धर्म देशना का यह तो संक्षिप्त सा सार है। इस धर्म देशना को सुनकर-त्रिपृष्ठ वासुदेव का अन्तःकरण अमृत से भी अधिक आनन्द पूर्ण हो गया। किसी भी आदमी की वर्तमान अवस्था-कैसी भी क्यों न हो ? परन्तु जिसके आत्म मंदिर में तीर्थंकर पद की योग्यता होती है और एक बार भी सम्यग् दर्शन की दिव्य ज्योति प्रकट हो चुकी होती है, ऐसे महानुभाव को जब जब देव-गुरु-धर्म का सुयोग प्राप्त होता है तभी-उसमें प्रभु की वाणी का श्रवण करने का सद्भाग्य प्राप्त होता है तब-हृदय कमल नव पल्लवित हो खिल उठता है। इस प्रकार मोह का आवरण हट कर पुनः सम्यक्त्व का प्रकाश खिल उठता है।

निमित्तवासी आत्मा .

भगवान महावीर भगवत की आत्मा ने सर्व प्रथम-नयसार के भव में सम्यग् दर्शन की प्राप्ति की थी। मरिचि के भव में कपिल का समागम होने से और उत्सूत्र प्ररुपणा का निमित्त मिलते ही इस गुण का ह्रास हो गया। सोलहवें भव में विश्वभूति के भव में इस आत्मा को संयम ग्रहण करने का संयोग और तीव्र तपस्या करने का प्रसंग ये दोनों सम्यग् दर्शन के आविर्भाव के कारण हुए। इसी भव में बाद में-विशाखनंदी द्वारा किये गए उपहास के कारण नियाणे का प्रसंग भी उपस्थित हुआ तो वह

करने पहुचा । प्रभुकी तीन प्रदर्शना करके--वन्दना कर--वह अपने योग्य आसन पर बैठ गया-तव-प्रभुने-धर्म देशना प्रारम्भ की ।

प्रभु की देशना और संवर--निर्जरा का स्वरुप

भगवान श्रेयासनाथकी धर्मदेशना मे सवर--निर्जरा तत्वकी प्रधानता थी । कर्म स्कन्धो का आत्म प्रदेशो के साथ अमुक प्रमाण मे जब तक सवन्ध होता है और नए नए कर्म स्कन्धो का ग्रहण चालू रहता है--तव तक आत्माको मुक्त अवस्था प्राप्त नही होती । तथा जन्म--मरण आदि दुखो की परपरा चालू रहती है । मुक्त अवस्था का असाधारण कारण सर्वर और निर्जरा होते है । सवर और निर्जराका कारण सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र हैं । सम्यग् दर्शन आत्मा का शुद्ध उपयोग अथवा शुद्ध चेतना को कहते है ।

सम्यग् चारित्र भी आत्मा की शुद्ध चेतना ही होती है । जितनी जितनी मात्रा में आत्माका शुद्धोपयोग और शुद्ध चेतना उतने--ही प्रमाणमें कर्मो का सवर और सकाम निर्जरा प्रकट होती है । किसी भी प्रकार के सुविहित धर्मानुष्ठान का शुद्ध ध्येय सवर और निर्जरा कहलाता है । इस प्रकार से--आत्मा सर्व कर्म रहित हो कर मुक्त्य अवस्थाको प्राप्त होती है । यह सव प्रकार की अनुकूलता मनुष्य जीवन के सिवाय और किसी दूसरी अवस्था मे प्राप्त नही होती है ।

मनुष्य जीव ने चक्रवर्तीपन अथवा वासुदेव पद पुण्ययोग से यदि प्राप्त हो जाय तो यह सव वैभव-अनित्य सयोगी होता है । सम्यग् ज्ञान-सम्यग् दर्शन-सम्यग् चारित्र ये आत्मा के स्वतत्व है । और इस प्रकार क्षायिक भाव से यदि ये गुण आत्मा में प्रकट हो जाए तो पीछे अनन्त काल तक ये गुण आत्म मदिर मे सदा ही अवस्थित रहते है । कर्म के "औदयिक" भाव से किसी भी प्रकार

की अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री जीवन में प्राप्त होने के वाद संवर और निर्जरा करनेवाली स्वभाव दशा में आत्मा की रमणता टिक जाए यह जीवन धन्य धन्य हो जाता है ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव को फिर सम्यक्त्व प्राप्ति :

भगवान श्रेयांसनाथ की धर्म देशना का यह तो संक्षिप्त सा सार है । इस धर्म देशना को सुनकर-त्रिपृष्ठ वासुदेव का अन्त करण अमृत से भी अधिक आनन्द पूर्ण हो गया । किसी भी आदमी की वर्तमान अवस्था-कैसी भी क्यो न हो ? परन्तु जिसके आत्म मंदिर मे तीर्थ कर पद की योग्यता होती है और एक वार भी सम्यग् दर्शन की दिव्य ज्योति प्रकट हो चुकी होती है, ऐसे महानुभाव को जब जब देव-गुरु-धर्म का सुयोग प्राप्त होता है तभी-उसमे प्रभु की वाणी का श्रवण करने का सद्‌भाग्य प्राप्त होता है तब-हृदय कमल नव पल्लवित हो खिल उठता है । इस प्रकार मोह का आवरण हट कर पुन सम्यक्त्व का प्रकाश खिल उठता है ।

निमित्तवासी आत्मा :

भगवान महावीर भगवत की आत्मा ने सर्व प्रथम-नयसार के भव में सम्यग् दर्शन की प्राप्ति की थी । मरिचि के भव में कपिल का समागम होने से और उत्सूत्र प्ररुपणा का निमित्त मिलते ही इस गुण का ह्रास हो गया । सोलहवें भव में विश्वभूति के भव में इस आत्मा को संयम ग्रहण करने का संयोग और तीव्र तपस्या करने का प्रसंग ये दोनो सम्यग् दर्शन के आविर्भाव के कारण हुए । इसी भव में वाद में-विशाखनंदी द्वारा किये गए उपहास के कारण नियाणे का प्रसंग भी उपस्थित हुआ तो वह

प्रकाश फिर अस्त हो गया । इस के बाद अठारहवे भव मे त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव मे श्रेयासनाथ भगवन्त की धर्मदेशना श्रवण कर एक वार फिर सम्यक्त्व गुण उसकी आत्मामे प्रगट हुआ । एक वार सम्यग्दर्शन गुण प्रगट होने के बाद जब तक आत्मामें यह गुण क्षायिक भाव से प्रगट नही होता तब तक प्राय गुणो का उदय या अस्त--उदय--अस्त यह परपरा चालू रहती है । आत्म हित के लिये अनुकूल निमित्त मिलते ही आत्मा में अनुकूलता प्रगट हो जाती है । और प्रतिकूल निमित्त मिलते ही प्रतिकूलता प्राप्त होती है । परन्तु यह सब प्राय तभी होता है जब एक वार भी आत्मा को निज आनद की प्राप्ति हो चुकी हो । 'निमित्तवासी आत्मा' इस वाक्य का अर्थ इस प्रसग से स्पष्ट हो जाता है ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव की विषयलोलुपता

भगवान श्रेयासनाथ प्रभुकी धर्मदेशना श्रवण कर त्रिपृष्ठ वासुदेव की आत्मा पर पडा हुआ दर्शन मोह का आवरण पूरी तरह हट गया । और इस प्रकार सम्यग् दर्शन का प्रकाश प्रगट हुआ । प्रभु को नमस्कार कर वह अपने परिवार के साथ राजमहल में लौटा । वासुदेव का जीवन बहुलता मे विषयो की लोलुपता के कारण विषय भरपूर होता है । और विषय की लोलुपता के कारण सम्यग् दर्शन आदि गुण लम्बे साल तक नही टिक पाते । जिस प्रकार दीपक को जलाने के बाद उस की ज्योति बुझ न जाए इस लिये उस के चारो ओर काच लगाने की आवश्यकता होती है उस के सरक्षण के लिये, उसी प्रकार आत्मगुण की प्रकट होती ज्योति को सजाग रखने के लिये जीवन में सयम-तप-आदि की अत्यन्त आवश्यकता होती है । अनन्त काल की विषय लोलुपता तप और सयम के विना समाप्त नही होती । यह पक्की बात है । तप और सयम का पारमार्थिक

रहस्य जो कुछ भी हो, विषयों की लोलुपता का अभाव अथवा मंदता तो है। त्रिपृष्ठ वासुदेव में इन्द्रिय सुख विषयों की तीव्र लोलुपता तो थी ही, साथ साथ श्रवणेंद्रिय की लोलुपता पराकाष्ठा की थी। संगीत और नृत्यकला में कुशल अनेक संगीतकार और नृत्यकारको दूर दूर देशों से बुला कर उन्हें अपनी राजधानी में रखता था। राज्य सभामें तो सदा ही नृत्य संगीत की बहार चलती रहती थी। परन्तु रात को भी यह इस संगीत लहरी को चालू रखता। यहां तक कि उसे इसी संगीत लहरी द्वारा ही नींद आती थी। इस प्रकार की बढ़ती विषय पराधीनता ने वासुदेव त्रिपृष्ठ को पूरी तरह से घेर लिया।

सभी अनिष्टों का कारण विषय लोलुपता

ज्ञानी भगवतों ने संसारी जीवों के लिये बाह्य तथा अंतरंग आपत्तियों का मूल कारण इन्द्रियों में असंयम अथवा इन्द्रियों की गुलामी का होना होता है।

आपदां कथित पन्थाः इन्द्रियाणां असंयमः।
तज्जय सम्पदा मार्गं येनेष्ट तेन गम्यताम्॥

इन्द्रियों का असंयम यह आपत्ति का मार्ग है। और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लेना सम्पत्ति का मार्ग है। हे आत्मन् आप की जैसी दृष्टि हो उसी मार्ग पर चले चलिये। आश्रव तत्व के निरुपण प्रसंगमे भी नव तत्वों को सभी आश्रवों का मूल "इंद्रिय कषाय अव्रत" इस गाथा मे इन्द्रियों की गुलामी का ही प्रथम स्थान गिना गया है। इन्द्रियों के असंयम से, अर्थात् विषयों की लोलुपता से कषाय भाव प्रकट होते हैं। कषाय भाव से हिंसक परिणाम प्रकट होते हैं। और हिंसक परिणामों के फलस्वरूप मन, वचन, काया से विपरीत (उलटे) कर्म बंध चालू रहते हैं। सब प्रकार के अनिष्टों का मूलभूत तो विषयों की लोलुपता ही है।

एक वार त्रिपृष्ठ वासुदेव ने अपने शैयापालक को सोने से पूर्व यह आज्ञा दी "अभी जो संगीतकार मधुर संगीत कर रहे हैं– उनको संगीत लहरी मे मुझे नीद लग जाने के वाद संगीत चालू न रखना, वंद करवा देना ऐसा उन्हें कह देना जिससे मेरी नीद में वाधा पड़े।" शैयापालक ने आज्ञा सुन ली परन्तु संगीत के मोह के कारण उसने उस आज्ञा का पालन नहीं किया। संगीत मे वह शक्ति है कि जो इसका अच्छा जानकार होता है उसके संगीत मे (यदि नीद न आती हो) तो नीद भी आ जाय, वर्षा न होती हो तो वर्षा भी आ जाय। अमुक प्रकार के दर्द—कष्ट और व्याधियो का निवारण भी संगीत द्वारा हो जाता है। संगीतकारो के मधुर संगीत के कारण त्रिपृष्ठ वासुदेव को नीद तो आ गई परन्तु शैय्यापालक संगीत के मोह में मुग्ध हो गया और अपने स्वामी की आज्ञा को भूल गया। अमुक समय के वाद त्रिपृष्ट की नीद टूटी—और उसने संगीत को चालु देखा और अपनी आज्ञा के उल्लघन को देखकर शैयापालक पर उसे वहुत क्रोध आया। प्रात काल राज्य सभा में उसे शैयापालक के कानो में सीसा गरम करवा कर डालने की आज्ञा सेनापति को दी। और साथ साथ यह भी घोषणा कर दी कि "जो मेरी आज्ञा का पालन नही करेगा उसे यही सजा दी जाएगी।"

कानो मे गरम सीसा पडनेसे शैयापालक की मृत्यु हो गई। त्रिपृष्ठ वासुदेव तीव्र विषय लोलुपता--तीव्र कषाय भाव—आदि आत्मदोषो के कारण सम्यक्त्व को छोडने के फलस्वरूप अनेक पाप वृत्तियो मे डूवा वाकी का जीवन पूर्णकर सातवें नरक लोक में गया। इस प्रकार भगवान महावीर का अठारहवा भव का वर्णन समाप्त हुआ।

१०

श्रमण भगवान महावीरके अठारहवें भवका सिंहावलोकन

श्रमण भगवान महावीर देव के सत्ताईस भवों मे से—अठारहवे भव तकका वर्णन अभीतक हुआ है ।

अब उन्नीसवें भव का अध्ययन हमे शुरु करना है । इस प्रकार इसका वर्णन करने से पूर्व हमे पुराने भवका सिंहावलोकन कर लेना चाहिये । भगवान महावीर के सत्ताईस भवो मे से पहला नयसारका भव, तीसरा मरिचि का भव, सोलहवां विश्वभूति का भव, अठारहवा त्रिपृष्ठ वासुदेव का भव, तेईसवा प्रियमित्र चक्रवर्तीका भव, पच्चीसवा नन्दन मुनिका भव, और सताईसवा तीर्थंकर का भव ये सभी विशिष्ठ प्रकार के प्रसगो से पूर्ण है । इस सभी भवों मे उत्पन्न प्रसगो आत्मदर्शन के भिन्न भिन्न दृष्टातो का जितना चिन्तन और मनन हम करते है उतनी ही अधिक मात्रा मे हमे तत्वज्ञान प्राप्त होता है ।

भगवान महावीर की आत्मा त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव से सातवे नरक मे अप्रतिष्ठा नामक नरकावास मे तेत्रीस सागरोपम की आयु लेकर उत्पन्न हुई, इस बारे में आगे वर्णन किया है ।

यहा तो विचार करने योग्य यह है कि एक तरफ से तो उत्कृष्ट मानव जीवन, दूसरी तरफ से अथाह शारीरिक वल का वैशिष्ट्य और तीसरी ओर तीन खडो का एक छत्रीय साम्राज्य वैभव इतनी इतनी अपार सामग्रियो के होते हुए भि त्रिपृष्ठ वासुदेव मरकर नरक गतिको प्राप्त करता है उस में इतने अधिक पतन का क्या कारण था ?

पतनका कारण यह था कि यह सव सामग्री उस पापानुवधी पुण्य के कारण मिली थी । इस लिये यह सुखसामग्री का उपयोग करते हुए भी वासुदेव उस में तीव्र भाव से आसक्ति प्राप्त कर रहा था और उस के पापोका उत्कृष्ट अनुवध करके पापोको भोगने के लिये वह दुर्गति मे गया ।

पुण्य-पुण्य में अंतर

जैन शासन में पुण्य के दो प्रकार मुख्य रुप से वताए गए है । पहला है 'पुण्यानुवधी पुण्य" और दूसरा है पापानुवधी पुण्य"

यदि पुण्य प्रकृति के वध के समय मोहनीय कर्म का स्थितिवध तथा रसवध का जोर न हो, परन्तु मदता हो तो ऐसा पुण्य—पुण्यानुवधी पुण्य कहलाता है । और ठीक इस से विपरीत जिस पुण्य प्रकृति के वध के समय में मोहनीय कर्मका स्थितिवध व रसवध का प्रमाण जोरदार होता है तो वही पुण्य पापानुवधी पुण्य कहलाता है ।

दान-शील—तप आदि किसी भी प्रकार का सुविहित धर्माचरण आत्महित के लक्ष्य में रखकर यदि किया गया हो तो मन, वचन, काया के योग में भी जिस प्रकार शुभपना होता है उस से उपयोग और अध्यवसाय भी उतना ही विशुद्ध होता है । यह शुभयोग पुण्यवध का कारण होता है । जव कि उपयोग की विशुद्ध मोहनीय कर्म की स्थिति और रस की प्रवल मदता का कारण होती है ।

इस से ठीक विपरीत परिस्थिति मे सुविहित धर्माचरण यदि भौतिक हेतुओ को लक्ष्य में रखकर करने में आता है, तो योगमें तो शुभयोगपन है, परन्तु उपयोग परिणाम में अविशुद्धि मलिनता होती है इस मे शुभयोग के कारण स्वरूप पुण्यवध तो होता है परन्तु उपयोग की मलीनता मोहनीय कर्म की स्थिति और रस में तीव्रता खडी कर देती है।

उस से पुण्यानुवधी पुण्य के उदय प्रसग में मोह के उदय की मदता होती है जिस से अतर्आत्मा में सम्यग् दर्शन आदि गुणो का स्थान होने से यह आत्मा पुण्योदय से प्राप्त हुए मानवजीवन शारीरिक वल, धन, दोलत आदि सामग्री की पराधीन नही होती परन्तु उस सामग्री का शक्ति अनुसार सदुपयोग ही करती है, और इस के परिणाम स्वरूप अल्प ससारी हो कर सद्गति का अधिकारी होती है।

जव पापानुवधी पुण्य के उदय के समय में मोहनीय कर्म की उदय की प्रवलता होती है, उस से अतर में (अतर्आत्मा) में मिथ्यात्व आदि दोषो से गाढ अधकार होने से यह आत्मा पुण्योदय से प्राप्त—जन्म सुख सम्पति की गुलाम वन जाती है और इस प्रकार प्राप्त हुई सामग्री का दुरुपयोग कर के ससारी वनकर ससार वृद्धि करता हुआ दुर्गति में चली जाती है।

"पुण्य—पाप की चतुर्भगी":

मन वचन काया के सभी आचार (अच्छे या वुरे) ये सव आचार योग कहलाते है और उन के पिछे के परिणाम उद्देश्य लक्ष्य अथवा दृष्टिविन्दु ये उपयोग कहलाते है।

इस योग और उपयोग के चार प्रकार माने जाते हैं।

१) शुभयोग और शुद्धोपयोग २) शुभयोग और अशुद्धोपयोग
३) अशुद्धयोग और शुद्धोपयोग ४) अशुभयोग और अशुद्धोपयोग।
इन चार प्रकार के कारणो द्वारा बधाते पुण्य पाप मे चार प्रकार के भेद जिन्हे "चतुर्भगी" कहते हैं कहे गए है। वे है :—

(१) पुण्यानुबधी पुण्य,
(२) पापानुबधी पुण्य,
(३) पुण्यानुबधी पाप,
(४) पापानुबधी पाप।

प्रथम प्रकार मे सुविहित धर्माचरण होता है और साथ ही आत्महित का लक्ष्य होता है। इसलिये इस मे योग का शुभपना, और उपयोग का विशुद्धिपन होता है। इस प्रसग मे सवर और सकाम निर्जरा के साथ पुण्यानुबधी पुण्य की अनुकूलता रहती है। जो मोक्ष का असाधारण कारण होती है।

दूसरे प्रकार मे सुविहित धर्माचरण हो परन्तु उस के पीछे भौतिक सुख की यदि लालसा हो, इस प्रकार मे योग तो शुभ है परन्तु उपयोग अशुभ है—अशुद्ध है। इसलिये सवर और सकाम निर्जरा का अभाव होता है। केवल भौतिक सिद्धि देने वाला पुण्य बध होता है, इस लिये वह मोक्ष साधक नही होता अपितु ससार वर्धक होता है। इसलिये इसे पापानुबधी पुण्य कहलाता है।

तीसरे प्रकार मे सुविहित धर्माचरण तो न हो परन्तु उस के बदले सासारिक प्रवृत्ति, और उस प्रसग मे पापस्थानको का सेवन हो, इतना होते हुए सम्यग् दर्शन होने के कारण इन पापस्थानको के सेवन के बाद यदि उस का पश्चाताप करने का सद्भाव हो, तो इस विभाव मे योग तो अशुभ होता है परन्तु उपयोग विशुद्ध

होता है। अशुभ योग के कारण घाती–अघाती दोनो प्रकार का पाप तो बधाता है, परन्तु उपयोग की विशुद्धता के कारण से उस मे स्थिति और रस की तीव्रता नही आती ऐसे पाप को पापानुवधी पाप कहते है ।

चौथे प्रकार मे प्रवृति अर्थात् योग मे सुविहित धर्मानुष्ठान नही होता, परन्तु पापस्थानको का सेवन होता है। साथ मे उपयोग में भी पाप सेवन होता है और पश्चाताप के रूप मे उस के स्थान पर प्रमोद–हर्ष होता है इसलिए अशुभ योग और अशुद्ध उपयोग होता है--ऐसे अवसर पर आत्मा घाती–अघाती जो पाप बध करता है–उस से यह परपरा अनेक भवो तक चालू रहती है। इस लिये उसे पापानुवधी पाप कहा जाता है।

योग का धर्म–और उपयोग का धर्म

जैन शासन मे योग की शुद्धि के लिये--आवश्यकता पर जितना वल दिया गया है, उस से अधिक वल उपयोग की शुद्धि पर भी डाला गया है।

अकेले योग मे ही धर्म है, इस से प्रवृत्ति मे भी धर्म होता है ऐसी वात नही है। उपयोग मे अर्थात् परिणति मे यदि धर्म न हो तो योगका धर्म अमुक समय पूरा कर के सासारिक भौतिक सुख मिलता है इस से ससार का परिभ्रमण का अन्त नही होता।

योग के धर्म के साथ--यदि उपयोग मे भी धर्म हो तो बाह्य सुख प्राप्ति तो होती ही है, परन्तु यह प्रासगिक ही होता है। और इस से ससार का परिभ्रमण चक्र कम हो जाता है और अन्त मे ससारी जीवन का अन्तरूप मोक्ष सुख प्राप्त होता है। यह धर्म का ही मुख्य फल है।

आज के, वर्तमान काल मे वाह्य वृत्ति मे धर्म का प्रमाण वहुत अधिक मात्रा मे अनुभव मे आता है। और इस प्रवृत्ति स्वरूप--धर्म की, आज के जडवादी विषम वातावरण में अत्यन्त आवश्यकता है। इतना होते हुए भी प्रवृत्ति धर्म मे, धर्मकी पूर्णता न मानकर उपयोग में भी धर्म को स्थान देने की आवश्यक्ता है, जिससे धर्म आत्मस्पर्शी वनकर मानव-कल्याणकारी हो।

त्रिपृष्ठ वासुदेव का पापानुवंधि पुण्य :

तीन खडो के अद्भुत ऐश्वर्यको भोगनेवाला राजराजेश्वर त्रिपृष्ठकुमार वासुदेव जैसा सामर्थ्यवान राजाधिराज आयुष्य समाप्त करने के वाद मर कर सातवें नरक में क्यो गया ? इस का समाधान ऊपर के स्पष्टीकरण से अपने आप स्पष्ट हो जाता है।

वासुदेव--तीन खड का स्वामी होते हुए भी पापानुवधी पुण्योदयवाला था और इस के द्वारा प्राप्त हुई, वाह्य सुख की विपुल सामग्री के प्रति, उसकी तीव्र आसक्ति थी, जोरदार गुलामी थी।

इस विषयो की आसक्ति और पराधीनता के कारण--घोर हिंसा पाप करने में भी वासुदेव को हिचकिचाहट या भय नही होता था।

अपने निद्रा सुख में जरा सी आपत्ति (खलल) पडते ही--क्रोध--के आवेश मे उसने शैयापालक के कान मे गरम किया सीसा डलवाया और इसमे उसे मृत्यु देकर यमसदन पहुचाया, ऐसा क्रूर कर्म करते हुए मन मे जरा भी कपकपी पैदा नही हुई और इस के स्थान पर ऐसी कठोर शिक्षा द्वारा सेवक वर्ग को आज्ञा का उल्लघन करने के खतरनाक परिणामोका आभास करवाया। ऐसी

शिक्षा मे गर्व था, उन्माद था, और ये सभी वाह्य सुखो की पराधीनता के फल स्वरूप थे।

उस कोई कारण तो–१६ वें भवमें विश्वभूति के रूप में ही वीजारोपण हो चुके थे। मथुरा नगरी में गायके समक्ष आ जाने के कारण, जमीन पर गिर जाने से विशाखनंदी द्वारा उपहास के शब्द सुनकर क्रोध मे आ कर गाय के सींग पकड कर आकाश में उछालने से, और फिर मन में उपजी–वैर भावना के फल स्वरूप –"आज-तक मे मेरे द्वारा की गई तप–तपस्या–और उत्कट सयमका यदि कोई फल प्राप्त हो तो ईसके फल स्वरुप मुझे भावान्तर में अधिक से अधिक शारीरिक वल मिले" ऐसी जो कामना उसने की यह अध्यवसायी पापानुवधी पुण्यका कारण था।

उसी कारण स्वरुप वासुदेवके भवमे, उग्र पाप कर्म करके भविष्यमे भगवान होनेवाले की आत्मा–एकवार तो नरकमें पहुच ही गई। अकेले त्रिपृष्ठ वासुदेव के लिये ही यह प्रसग वना ऐसी वात नही समजनी चाहिये। परन्तु प्रत्येक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में पन्द्रह कर्मभूतियोमे उत्पन्न होने वाले सभी वासुदेव नियाणा पूर्वक ही वासुदेव वनते है–और वासुदेव भवमे घोर पाप कर्म कर, मर कर नियत रुपसे नरक में जाते है।

बलदेव–वासुदेव दोनो के अंतरगकी समानता

वलदेव और वासुदेव सदा–दोनो सगे वधु ही होते है। एक ही पिता के दोनो पुत्र होते है, परन्तु दोनो में खूवी यह है कि दोनो के अतरग में जमीन आसमानका अन्तर होता है।

वासुदेव नियतपन से पापानुवधी पुण्योदय वाले होते है, जवकि वलदेव उनसे विपरीत–निश्चित पुण्यानुवधी पुण्योदय वाले होते है।

वासुदेव सभी नरक गति को प्राप्त करते हैं जबकि बलदेव स्वर्ग अथवा मोक्ष गामी होते हैं। बाह्य पुण्यमें अमुक रुप में समानता होते हुए भी पापानुबंधी पुण्य और पुण्यानुबंधी पुण्य के कारण अतरंग जीवन द्रष्टिसे एक तो अधोगामी होता है और दूसरा उर्ध्व-गामी होता है।

अचलकुमार का विलाप और दीक्षा

वासुदेव और बलदेव की ईस युगल जोडी में आपसी प्रगाढ प्रेम होता है। उस नियम के अनुसार त्रिपृष्ठ वासुदेव के बडे भाई अचलकुमारने त्रिपृष्ठ पर अगाध प्रेम था।

अचलकुमार उसी भवमे मुक्तिगामी तथा विवेकी होने के कारण फिर भी त्रिपृष्ठ के अवसान के बाद—अत्याधि स्नेहवश उच्च—तथा करुण स्वर मे रोने लगे—विलाप करने लगे। उसके मृत शरीरको छाती से चिपका कर विलाप करने लगे।

परिवार के दूसरे वृद्ध पुरुषो के समझाने से--अचलकुमारने त्रिपृष्ठका शरीर कुटुम्बी वर्ग को सोंपा और उस की उत्तरविधि पूर्ण हुई।

यह हो जाने के बाद वासुदेव, पर प्रगाढ स्नेह होने के कारण वे सदा उदासीन—गमगीन रहने लगे। अब अचलकुमारको राज-महल मे उपवन मे, नगर मे किसी भी स्थान में, खान पान भोगविलास आदि किसी भी प्रकार की सासारिक प्रवृत्ति में आनन्द नही आता था। रस प्राप्त नही होता था, त्रिपृष्ठ की याद आ जाती थी।

ईस प्रकार कितना ही समय व्यतीत हो गया। एक बार सौभाग्य मे ग्यारहवे तीर्थंकर श्रेयांसनाथ भगवान का उपदेश याद आ गया। ससारकी असारता का विचार कर- विषयों से विरक्ति पाकर वह सयम

ग्रहण करने को तत्पर हो गया परन्तु सबन्धियो के आग्रह पर कुछ दिन के लिये रुक गया ।

कुछ समय बाद "धर्मघोष" नाम के एक "आचार्य भगवत," पोतनपुर नगर में पधारे । अचलकुमार अपने परिवार के साथ उनके दर्शनार्थ गया । आचार्य भगवान की धर्मदेशना सुनकर उसे पूर्णरुप से ससारके प्रति वैराग्य हो गया और सगे स्वजनोकी सम्मति लेकर आचार्य भगवन्त से "भागवती" दीक्षा ग्रहण कर ली ।

दीक्षा ले लेनेके बाद मूलगुण—उत्तर गुण के परिपालन मे कठोर रुप से लग गया और ज्ञान—ध्यान—तप सयम की सुविशुद्ध आराधनामें तत्पर हो गया । इस प्रकार से आराधना करता करता सभी कर्मोका क्षयकर केवल ज्ञान प्राप्त किया और शेष आयु पूर्ण कर बलदेव अचलकुमार मोक्षगामी हुआ

त्रिपृष्ठ वासुदेवकी आयु

त्रिपृष्ठ वासुदेव की आयु चौरासी लाख वर्ष की थी । उसमे पच्चीस हजार वर्ष बाल्यावस्थामें, पच्चीस हजार वर्ष मडलिक राजा रुप में व्यतीत हुए, एक हजार वर्ष—दिग्विजय करने में लगे, बाकीके त्यासी लाख उन्नचास हजार वर्ष वासुदेव पनमे व्यतीत किये । इस प्रकार—चौरासी लाख वर्षकी आयु पूर्ण कर तीव्र रौद्र ध्यान के कारण अति निकाचित अशुभ कर्मो का फल भोगनेके लिये सातवे नरकमें गए ।

भगवान महावीरका अठारहवा भव इस प्रकार पूर्ण हुआ । प्रथम नयसार के भवमें प्रकट हुए सम्यग् दर्शनकी दिव्य ज्योतिके ऊपर मिथ्यात्वका गाढ परदा (आवरण) पड गया । प्रकाश ढक गया । बाह्यदुःख की चरम सीमा पर यह आत्मा पहुच गई । मोह-

राज के साथ संग्राम में वह पीछे हटने के फल स्वरूप पराजित हो गयी और उस प्रकार यह आत्मा कर्मकी भीषण शृंखलाओं से पूर्णतया जकडी गई। और इस प्रकार अपने कुकर्मों के कारण शिक्षा भोगने के फल स्वरूप नरकगामी हुई। वहा—तीव्रतम दु ख—भयानक यातनाए—असह्य वेदनाए उसको अपने मे लिपटाने की प्रतीक्षा कर रही थी। भविष्यमें पापसे शरण देकर तारक भगवान महावीर की यह आत्मा इस समय कर्मफल को भोगने के लिये स्वयं कर्मों के समक्ष पामर-अ-शरण रूपी हो गई।

इतना होने पर भी यह दर्शन स्पष्ट होता है—कि किया हुआ कर्म हुआ कर्म-किसी को छोडता नही है, भले राजा हो—महाराजा हो—चक्रवर्ती हो—या भावी तीर्थंकर ही क्यो न हो। कर्मका न्याय सभी जगह समान रूप निष्पक्ष—अटल और सुव्यवस्थित रूप में चलता है।

वहाँ कोई भी लागवग—रिश्वत अथवा सिफारिश नही चलती, इसलिये तीव्र कर्मबंधन न करो।

सावधान रहो।

११

वासुदेवों का नाम–समय गति

त्रिपृष्ठ वासुदेव वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम वासुदेव थे। वर्तमान अवसर्पिणी के २४ तीर्थंकरो में ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयासनाथ के शासनकालमें इनका अस्तित्व था। और मर कर सातवें नर्कमें गए। यह पहले वर्णन कर दिया गया है।

इस प्रसग में बाकी के ८ वासुदेवो का नाम–उतरा समय–आयु पूर्ण होने पर कौन कहा गया इस का भी ज्ञान कर लेना अवसरोचित है, इस लिये सक्षेप में उनका वर्णन करतें है।

अ न	वासुदेव का नाम	किस तीर्थकर के शासनमें	कौनसी गति प्राप्त हुई
१	त्रिपृष्ठ	श्रेयासनाथ	सातवा नरक
२	त्रिपृष्ठ	वासुपूज्यस्वामी	छट्ठा नरक
३	स्वयप्रभु	विमलनाथ	छट्ठा नरक
४	पुरुषोत्तम	अनतनाथ	छट्ठा नरक
५	पुरुष सिंह	धर्मनाथ	छट्ठा नरक
६	पुरुष पुडरिक	अरनाथ	छट्ठा नरक
७	श्रीदत्त	अरनाथ	पाचवा नरक
८	लक्ष्मण	मनिसुव्रत स्वामी	चौथा नरक
९	कृष्ण	नेमिनाथ	तीसरा नरक

ईसी प्रकार से नव बलदेवो जो–उन वासुदेवो के बडे भाई हुए–उन का नाम समय–गतिका भी ज्ञान कर ले।

	बलदेव का नाम	किस तीर्थंकर के शासनमें	कोनसी गति प्राप्त हुई
१	अचल	श्रेयासनाथ	मोक्ष
२	विजय	वासुपूज्य स्वामी	मोक्ष
३	श्रीभद्र	विमलनाथ	मोक्ष
४	सुप्रभ	अनतनाथ	मोक्ष
५	सुदर्शन	धर्मनाथ	मोक्ष
६	आनन्द	अरनाथ	मोक्ष
७	नन्दन	अरनाथ	मोक्ष
८	रामचद्र (श्री पद्म)	मुनिसुव्रत स्वामी	मोक्ष
९	बलराम	नेमिनाथ	पचम देव लोक

बाह्य सुख-दुखकी चरम सीमा

त्रिपृष्ठ वासुदेव–भवकी समाप्ति के बाद–प्रभु-भगवान–महावीर की आत्मा सातवें नरकमे चली जाती है। सातवा नरक–अर्थात जहाँ सर्व प्रकार का बाह्य दुख, और दुख की चरम सीमा–जैसी दूसरे विश्वमें और कही भी नही- ऐसी भीषण यातनाएँ–इस सातवे नरक मे होती है।

जिस प्रकार पौद्गलिक सुख की चरम सीमा का स्थान सर्वार्थ सिद्ध विमान है--उसी प्रकार पौद्गलिक अथवा शारीरिक परम दुख का स्थान सातवा नरक है।

"सर्वज्ञ" कथित शास्त्रो के कथन अनुसार-इस सातवे नरक मे जानेवाले नारकी जीवोको–पाच करोड अडसठ लाख निन्यानवे

हजार पाच सौ चौरासी (५६८९९५८४) रोगोका निरतर—उदय भोग उठाना पडता है।

नारकी जीवोकी अ—शरण दशा

अपने शरीर में एक-आधही रोग हो, वह भी कितना असह्य होता है। और इस रोग से निवारण के लिये कितना प्रयत्न, यत्न तथा कषाय वध हम करते है।

ईसके विपरीत--इन नारकी जीवो को एक साथ लाखो-करोडो भयकर दर्दो को भोगना पडता है और वह सताप लगातार चालू रहता है। ईन रोगो के निवारणार्थ इस नरक में-कोई डाक्टर-वैद्य-अथवा औषधि आदि कुछ नही होता, दो अक्षर सान्त्वना, अथवा शान्तिका कहने वाले, सुनाने वाले, माता, पिता, भाई-वहन, पत्नी-पुत्र-मित्र आदि कोई भी स्वजन वहाँ नही होते। इस के साथ साथ आसपास का वातावरण भी शान्ति के स्थान पर अशान्ति से भरा और दुःख का वर्धनीय (वढानेवाला) ही होता है।

दूसरी वात यह है कि आज के युगमे मनुष्य की आयु का प्रमाण-लगभग पचहत्तर वर्ष से सौ वर्ष के वीच का ही होता है, और यही मर्यादा भी है, इस के मुकाविले मे नारकी जीवो को तेत्रीस सागरोपम तक का जीवन व्यतीत करना पडता है। जैन दर्शन के अनुसार असख्य वर्षो का एक पल्योपम, और दश कोटा कोटि पल्योपम का एक सागरोपम, काल होता है ऐसे तेत्रीस सागरोपम का आयुष्य होता है।

ईतने लम्वे समय तक उत्पत्ति के समय से आयुष्यकी समाप्ति तक, उपर वताए प्रमाण से लम्वे समय तक भयानक दर्दो का एक साथ भोगना नारकी जीवन का अशरण पना कहलाता है।

इस परिस्थितिमे नारकी जीवो की वेदनाए-त्रास-दुःख-यातनाए-कष्ट—अत्यन्त असह्य--दारुण—भीषण होते है इसकी तो कल्पना करना भी कठिन है--शरीर का रोम रोम काप उठता है।

दुःख की सतत परंपरा

नरक गति मे उस मे भी ६ वें– ७ वें– नरक में उत्पन्न जीवात्माओ को ही अकेले पाप के उदय का भोग सहना पडता है– ऐसा विचारना तर्क सगत नही, पाप का अथवा अशुभ कर्मो का भोग उस के साथ साथ एक अमुक मात्रा में पुण्य का भोग भी होता है।

नरक गति– नरक की आयु—अशाता वेदनीय कर्म—हुडक सस्थान अशुभ वर्ण, अशुभ-गध-रस-स्पर्श, आदि पाप प्रकृतियो के उदय के साथ साथ पचेंद्रिय जाति, त्रस—नामकरण, प्रत्येक नामकरण वैक्रिय शरीर आदि पुण्य प्रकृतिया भी उदय में होती है।

इतना सब होते हुए भी ये पाप प्रकृतिया तीव्र रस वाली होने के कारण और निकाचित जैसी तीव्र अवस्था वाली होने के कारण, और इसके विपरीत पुण्य प्रकृतिया मद रस वाली होने के कारण प्रत्यक्ष अनुभव मे कम प्रतीत होने से पापोदयजन्य दुःख की बहुलता ही अधिक प्रतीत होती है। पुण्य प्रकृतियो के अमुक प्रमाण में भोग होते हुए भी उस का अनुभव नही होता, परन्तु दुःखो के भोग मे तीव्रता के कारण ये पुण्य प्रकृतिया सहायक रूप प्रतीत नही होती।

ऐसे सयोगो मे नारकी जीव को क्षणभर भी सुख या शान्ति का आभास नही होता।

ससार की जीवात्माओ के कल्याण और शान्ति के लिये ही जब महान परम—आत्माओ का अवतार होता है। ऐसे विश्ववत्सल

चित्र-१८

भगवान की आत्मा त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप मे थी तब उनकी आज्ञा का उल्लंघन करनेवाले शय्यारक्षक के कान मे पिघला हुआ सीस उडेलवा रहे हैं। पृष्ठ १०६ देखो

भगवान तीर्थंकर देवो के कल्याणक अवसरो पर ही निरतर दुख में लीन नारकी जीवो को– थोडे समय के लिये आराम का अनुभव होता है।

नरक की दूसरी वेदनाएं

नारकी जीवो के जीवन में-- ऊपर कहे अनुसार केवल रोग आदि शारीरिक वेदनाए और दुख की ही मात्रा होती है--ऐसी बात नही है। परन्तु उनको क्षेत्र, भूमिजन्य शीत, उष्णता, आदि की भयकरता को भी सहन करना पडता है। इस के साथ साथ उन के जीवन में क्रोध कषाय का तीव्र उदय होने के कारण हमेशा परस्पर झगडा–मारामारी कटों-कटी-क्लेश आदि की पराकाष्ठा होती है इस से अतरग दृष्टि से भी उन्हें शान्ति का नामोनिशान भी नही मिलता। उन मे कोई एक सम्यग् दृष्टि आत्मा हो तो वह अलग बात है।

प्रथम के तीन नारकीयो में परमाधामी देवो द्वारा होती वेदनाए भी भयकर होती है। उनका वर्णन सुनने से ही कपकपी आ जाती है। ऐसी दश-दश प्रकार की वेदनाए ये नारकीजीव रात दिन उठाते है।

भविष्य में भगवान होने वाले महावीरदेव की आत्मा को भी त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में किये गए उग्र पापो के कारण सातवें नरक में जाने का प्रसग प्राप्त हुआ। वहा असंख्य वर्षो तक दुरत दुख भोगने के अनुभव प्राप्त करने पडे। इन के कारण स्वरूप कुछ भी हो परन्तु तीव्रभाव से पाप करने द्वारा उपार्जन कर्मसत्ता का प्रबल कारण तो था ही।

विषयो की गुलामी यह महान दुःख का कारण है

इस प्रसग में अपने हृदय मे यह विचार आता है जब हम इन दुखो से सदा दूर रहने का प्रयत्न करते है— और सदा बचने की अभिलाषा करते है फिर भी हमे ऐसे दारुण दुख भोगने ही पडते है । इस का क्या कारण है ? इस विचार का सक्षिप्त सा समाधान तो केवल इतना ही है कि अपने सुख का मूल कारण अपने स्वय ही है, और दुखो का कारण भी हम स्वय ही है ।

इन्द्रिय सुखो के पीछे गुलाम बने रहना, और अपने आप का भी ज्ञान भुलाकर "पुद्गलानदी आत्मा" अधिक बढती अज्ञान दशा के कारण से कितनी ही वार हिसा–असत्य–चोरी–दुराचार आदि पापो को लगातार उग्रभाव से करती है, और इन पापो के सेवन के उपरान्त उसे एक प्रकार का आनन्द एक तरह का आमोद प्रमोद अनुभव होता है, इस के द्वारा निकाचित भाव से अशुभ कर्मो का वध हो जाता है और यह आत्मा नरक आदि गति को प्राप्त कर जाती है । और असख्य समय तक दुख उठाती रहती है ।

समर्थ शास्त्रकार हरिभद्र सूरिजी महाराज का यह कथन है—

दुखं पापात् सुखं धर्मात् सर्व शास्त्रेषु संस्थितिः ।
अत. पापं न कर्तव्यं, कर्तव्यो धर्म संचय ॥

पाप यह दुख का कारण है । और धर्म, सुख का कारण होता है, यह वात अकेले जैन शास्त्रो की ही नही है परन्तु सभी आस्तिक धर्म दर्शन में आती है । जो दुख अनिष्ट का कारण हो उस पाप से दूर रहो, और वाह्य–अभ्यन्तर किसी भी प्रकार के सुख की अभिलाषा हो तो धर्म की आराधना में आत्मा को जोड दो ।

बीसवें भवमें सिद्ध रूप में उत्पत्ति

सातवें नारकी से आयुष्य पूर्ण कर बीसवे भवमे भगवान महावीर की आत्मा—सिंह रूप मे उत्पन्न हुई।

नारकी जीवो के लिये यह नियम है कि ये जीव नारकी जीवन से अनन्तर पन में देवताओ का भव प्राप्त नही कर सकते, इसका कारण यह है कि उन्हें देवताओ का भव प्राप्त हो, ऐसी—पुण्य प्रकृति को बाधने के सधिन नरक में प्राप्त नही होते--वातावरण अनुकूल नही होता।

इसी प्रकार नारकी का जीव नरक में से निकल कर बीचमे मनुष्य या तिर्यंच का जीवन प्राप्त किये विना—ये नारकी जीव एकेन्द्रिय-दो-इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, अथवा चतुरेन्द्रिय तरीके भी उत्पन्न नही हो सकते, क्यो कि इन दडको मे उत्पन्न होने योग्य पाप प्रकृतियो का वंध करने की अनुकूलता भी नारकी जीवो में नही होती।

इस प्रकार नरक में उत्पन्न हुए जीवात्मा वहा अपनी आयु-पूर्ण करके केवल पचेंद्रिय तिर्यंच अथवा मनुष्य के दडक में ही उत्पन्न होते है और इस के सिवाय दूसरा कोई शरीर उन्हें प्राप्त नही होता। इस में भी—प्रथम नरक से लेकर छट्ठ-नरक तक के जीव तो मनुष्य अथवा तिर्यंच दडको के अतिरिक्त किसी भी दडक में उत्पन्न हो सकते है परन्तु सातवें नरक के जीव तो एक मात्र पचेंद्रिय तिर्यंच के ही दडक में उत्पन्न होते है इन जीवो को मनुष्य दडक में जन्म लेने का अधिकार नही होता।

सातवें नारको में भी सम्यक्त्व

यहा एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि सातवें नरक के जीवो मे भी क्या कोई सम्यक्त्वी होता है? ऐसा सम्यग्दृष्टि नारकी जीव यदि आयुष्य का बंध करे तो वह मनुष्य आयुष्य का बंध

करता है ऐसा—कर्मग्रन्थ आदि शास्त्रो का कथन है। तो फिर सातवे नरक का कोई जीव सम्यग्दृष्टि के कारण से मनुष्य की आयुष्य का बध कर मनुष्य दडक में क्यो नही उत्पन्न हो सकता ? इस शका के समाधान मे यह समझना चाहिये कि सातवें नारकी मे उत्पन्न जीवो मे से कोई जीव सम्यग्दृष्टि वाला हो सकता है, यह बात सत्य है, मनुष्य तथा तिर्यच के भवसे जब कोई आत्मा सातवे नरक मे जाती है तो वह आत्मा अवश्य ही मिथ्यादृष्टि आत्मा होती है।

परन्तु उत्पन्न होने के बाद प्रथम के अन्तर्मुहूर्त समाप्त होने पर सातवें नरक-जैसे भयकर दुख के स्थान मे भी किसी एक भव्य आत्मा को सम्यग् दर्शन प्राप्त हो सकता है। और कभी कभी तो ऐसा भी होता है कि प्रगट हुआ यह क्षयोपशम सम्यग् दर्शन इस नारकी के जीवन के ३३ सागरोपम आयुष्य के अन्तिम अन्तर्मुहूर्त तक भी (बाकी रहे हुए) उस में स्थिर रहता है।

इतना होते हुए भी सातवें नारकी का भव स्थान ऐसा विचित्र है, अथवा वहा उत्पन्न होने वाले आत्मा की कर्मसत्ता ही कुछ ऐसी है कि सम्यग् दर्शन के विद्यमान होते हुए भी इस समय के बीच आयुष्य बध होता ही नही है, आखीर का वह एक अन्तर्मुहूर्त जब बाकी रहता है तो यह सम्यग् दर्शन लोप सा हो जाता है और मिथ्यात्व का उदय होते ही आयुष्य बध हो जाता है और इस समय मे तिर्यच गति का ही बध होता है, यह सिद्धान्त "कर्म प्रकृति"—"पच सग्रह" आदि ग्रन्थो में विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है।

इस प्रकार के सजोगो मे सातवे नरक मे उत्पन्न हुआ भगवान महावीर का जीव (आत्मा) मनुष्य गति के बध का अवकाश प्राप्त न करके—अपने बीसवे भव मे किसी भयानक वन में सिंह रूप में जन्म धारण करता है।

१२

पशु पशुओंमें समानता

भगवान महावीर की आत्मा—नयसार के भव से अपने सत्ताईस भवो में से वीसवे भव में सिह के रूप में उत्पन्न होती है।

तिर्यञ्च भव मे किसी भी—गाय—बैल—आदि पशु जीवन में जन्म होने से यह बेशक एक अशुभोदय ही होता है, फिर भी दूसरे जीवोकी अपेक्षा जैसे सिह—वाघ—चीता—बिल्ली—आदि पशुओ के मुकाबिलेमें गाय बैल आदि पशुओ में क्रूरता—तथा पाप की मात्रा बहुत कम होती है। इस लिये इन की प्रवृत्ति में—हिंसा—क्रूरता अथवा पाप की तीव्रता स्वाभाविक रूपसे अल्प होती है।

इतना ही नही—ये गाय बैल आदि पशु (जीव) अनेक कष्ट सहकर भी मानव समुदाय के लिये—दूध—खेती, गोबर, मूत्र आदि सामग्री के पूरक बन कर उपकारक रूप कहलाते है। और इस प्रकार पुण्य प्रकृतिका बंध करके मनुष्य अथवा देवगति मे उत्पन्न हो सकते है।

इस से ठीक विपरीत सिह—वाघ—बिल्ली आदि चतुर्पाद पशु—आदि की स्थिति पूर्णतया भिन्न होती है। किसी एक जीवविशेष का

उदाहरण—अपवाद रूप एक ओर रख कर यदि विचार किया जाय तो ये जीव अपने जीवनकालमें अनेकानेक पंचेंद्रिय जीवो की हत्याकरके पापस्थानको के सेवन द्वारा नरक अथवा तिर्यंच गति मे ही विचरते रहते है ।

"शुभ अथवा अशुभ प्रकृति से-सुख दुख का निर्माण"

जीवनमें कभी कभी त्रिकरण योगसे ऐसी ऐसी शुभ प्रवृत्तियो का उदय होता है कि उनके प्रभाव से यह आत्मा जहां जहां भी उत्पन्न होती है वहां वहां वाह्य—अभ्यन्तर सुख शान्ति अथवा कुशलानुबंध की परंपरा चलने लगती है ।

कभी कभी विपरीत पनेसे जीवनमे कितनी ही वार मन—वाणी—शरीर के द्वारा ऐसी अशुभ प्रवृत्तियो का प्रसंग भी प्राप्त हो जाता है, कि जिसके परिणाम स्वरूप यह आत्मा जहां जहां जन्म लेती है, वहा वहा वहुलतासे दोनो प्रकार से (वाह्य—अभ्यन्तर) अशान्ति अथवा "अकुलानुबंधी" परंपराका अनेक भवो तक चलना रहता है ।

पाप से दूर रह कर अनासक्त वनो

पाप को पाप रूप मान कर उस से दूर ही रहा जाय और उसे अपने ऊपर हानी न होने दिया जाय, आत्महित के यह सर्वोत्तम मार्ग है । परन्तु यदि—इस प्रकार की उच्चकक्षाको प्राप्त न किया जा सके, तो पापको पाप समज लेने के वाद जब कभी पापकी प्रवृत्तियोका प्रसंग आए—और अनिवार्य प्रसंगोमे पाप करना भी पडे, तो अन्तर में उस पापकी वेदना का अनुभव करके, उसकी अनुमोदना कर लेने से पाप की वह परंपरा—चालू नही रहती ।

ऐसे पापोका फल भोगते हुए भी (क्योकि वे तो भोगने है ही) अतर्आत्मामें यदि धर्मध्यानको स्थान रहता है तो अतरपने से यह आत्मा मोक्ष प्राप्तिके कारण स्वरूप सकाम निर्जरा का इस आत्मा को लाभ प्राप्त होता है।

जो आत्मा पाप को पाप तरीके से नही जानती, और यदि जानती हो तो पाप को पाप तरीके से नही मानती और इससे निडरपन के कारण से—पापकी प्रवृत्ति मे लगी रहती है, इतना ही नही किये हुए पाप के, पश्चातापके स्थान पर उसमे आनन्द—प्रमोद समजती है तो ऐसी आत्मा एक पाप से दूसरे पाप में, दूसरे से तीसरे—पाप मे तीसरे से चौथे पाप मे ऐसी परंपरा को प्राप्त कर लेती है। और अनेक जन्म पर्यन्त यह क्रम चालू रहता है। और इस प्रकार इस आत्मा को दुर्गति में परिभ्रमण करना पडता है।

नियाणा यह एक उग्र पाप है।

प्रभु की आत्माको १६ वें भव में (विश्वभूति के भव मे) चरित्र ग्रहण करने के वाद—विशाखनदी का उपहास सहना पडा। इस प्रसंग में—क्रोधके आवेशके कारण नियाणा करने का उग्र पाप शुरु हुआ। और उस प्रकार कई भवो तक यह परंपरा चालू रही।

अठारहवें भवमे तीन खडका साम्राज्य प्राप्त कर—सुख भोगने वाले—वासुदेव होते हुए-शैय्यापालक के कान मे गरम किया—पिघलाया हुआ सीसा—डालने का जो प्रकरण घटित हुआ उस के मूल कारण में यह नियाणा ही था।

नियाणेके द्वारा-कान मे सीसा डालने का पापकर्म हुआ और इस पाप के परिणाम स्वरूप सातवा नरक प्राप्त हुआ। सातवे नरक से सिहके भवमें आना पडा। सिह के भव से फिर चौथे नरक में जाना

पडा। चौथे नरक से निकल कर पीछे अनेक तिर्यंच आदि-क्षुद्र भवों में परिभ्रमण परंपरा चालू रही। इन स्थूल भवोंको २७ भवों में नहीं गिना जाता।

ईन सब परिस्थितियो के सृजन का यदि कोई मुख्य कारण था तो वह यानियाणे का उग्र रूप., वाह।

ईन सब प्रसंगो का ज्ञान हो जाने के बाद—यह बात ध्यान योग्य है—जाने अनजाने—नियाणे जैसा पाप कर्म नहीं होना चाहिये। और अनिवार्य पण से हिंसा आदि पापो का कृत्य और उनसे प्राप्त होने वाले आनन्द की भावना या कल्पना जीवन मे आनी ही नहीं चाहीयें। ऐसा ध्यान रखने की आवश्यक्ता है।

"२१ वें भव में चौथा नरक"

भगवान महावीर की आत्मा अपनी बीस वें भव में सिंहके भव में हिंसा आदि अनेक पाप स्थानकों का सेवन करके नरक गति का बंध कर के इक्कीसवे भवमें चतुर्थ नरक में गई।

शास्त्र ग्रन्थों में यह स्पष्ट है कि असज्ञी पचेंद्रिय जीव अधिक से अधिक पाप के योग से नरक में जाते है तो पहले नरक में ही जाते हैं।

चदन गोह—गिलहरी नेवला आदि भूजपरिसर्प (मुख्यतया भुजाओं की सहायता से चलनेवाले) जीव पाप की प्रवृत्ति के कारण दूसरे नरक को प्राप्त होते हैं।

बाज—गीध — आदि आकाश में उडनेवाले (खेचर) पक्षी—अपनी क्रूरता तथा हिंसादि की प्रवृति के कारण अधिक से अधिक तीसरे नरक तक जाते है।

सिंह—वाघ—आदि चोपाए पशु अशुभ कर्मो के कारण अधिक से अधिक चौथे नरक तक जाते है ।

सर्प—अजगर आदि उर परिसर्प (खास तरीके से—छाती की सहायता से चलनेवाले) जीव तिर्यंच क्रोधादि पापो के कारण अविक से अधिक पांचवे नरक में जाते है ।

उग्र—पापी—दुष्चरित्र पुरुष मगर मच्छ—वगैरह जलचर प्राणी तीव्र—लोभ—हिंसा—रौद्रध्यान आदि पापो के योग से सातवे नरक तक जाते है ।

विपरीत पुरुषार्थ से बचो

प्रभु की आत्मा—२१वे भव में चौथे नरक में गई । इस नरक गति में जीवो की आयु (उत्कृष्ट) दश सागरोपम तक होती है । और साढे वासठ धनुष्य जितना मोटा स्वाभाविक वैक्रिय शरीर आकार होता है ।

उन नरको में परमाधामी देवो द्वारा दी जाती वेदनाए तो नही होती परन्तु क्षेत्रीय वेदनाए तथा अनन्य कृत वेदनाए बहुत होती है । और ये वेदनाए इतनी तीव्र होती है कि इन के समक्ष —परमाधामी देवो की वेदनाओ की कोई गिनती नही ।

भगवान की आत्मा भी चौथे नरक में दश सागरोपम आयु तक भीषण और दारुण वेदनाए सहती है ।

नयसार के भवमें प्राप्त सम्यग्दर्शन के वाद, सत्तामें आए हुए—मोहनीय कर्म के "उदयजन्य" विपरीत पुरुषार्थ और अशुभ कर्मो कि प्रबलता के कारण स्वरुप भगवानने १९वें भवमें सात वें नरक और २१ वे भवमें चौथे नरक में अवतार लेना पडा ।

इस प्रसग में इस ससार की आत्माओ को (जीवो) को, पाप मय पुरुषार्थ से बचने के लिये चेतावनी रूप यह सिद्धान्त लाल बत्ती रूप है (खतरे का सिगनल)।

नरक के बाद-अनेक तिर्यचादि भव

सातवे और चौथे नरक में—लम्बी आयु भोगने के बाद भी भगवान महावीरकी आत्माको अशुभ कर्मो के बध और अकुशलानुबधी परपरा का अन्त प्राप्त नही हुआ।

और इस कारण से चौथी नारकीका जीवन पूर्ण करके भगवान की आत्माके तिर्यच आदि अनेक भवो में जानेका—प्रसग चलता रहा। परन्तु उन भवोकी आयुष्यतामे कमी अथवा दूसरे कई एक कारणोंसे वे भव अति स्थूल होने के कारण सताईस भवोमे नही गिने जाते। इतने पर भी एक बात तो पूरी तरह निश्चित है ही कि विश्वभूतिके १६ वे भव में नियाणे के पाप कर्म द्वारा अकुशलानुबध का जो बीजारोपन हुआ था, उसकी परपरा का अत २१ वें भव तक नही हुआ। और जब तक इस बधका अन्त नही हो जाता तब तक कुशलानुबध —के अनुकूल योग की प्राप्ति नही होती।

इस कारण से ही अकुशलानुबध की परपरा का अन्त होने में निमित रूप सहायक बनती, ये तिर्यच आदि योनिया आदि अनेक भवो तक परपरागत तरीके—से प्रसग रुप सहायक बनती रही।

अकुशलानुबध की परपरा का अन्त

जो जीव अनादिकाल से मिथ्यात्वी—मिथ्यादृष्टि होता है, और उसकी इस अवस्थाका अभी अन्त नही आया होता, ऐसी आत्मा ससारके किसी भी भवमे—योनिमे या शरीरमे क्यो न जन्मे उसके अकुशलानुबधी परपरा चालू रहती है।

परन्तु जो आत्मा—चरमावर्त मे (अन्त समयकी प्राप्ति पर) पहुच गई हो और उसमें एक वार भी सम्यग् दर्शन पाया हो ऐसी आत्मा को भी प्रतिकूल निमित्त मिलने के साथ अकुशलानुवधका बीजारोपण होने के साथ अनेक भव तक उस की परपरा चलती रहती है। परन्तु—पाँच सात—या कुछ और भवके उपरान्त इस अवस्थाका अन्त प्राप्त हो ही जाता है।

भगवान महावीर की आत्मा को इक्कीसवें भव में चौथे नरक की गति तक अकुशलानुवधी परपरा का अन्त आ जाना चाहिये था परन्तु ऐसा न हुआ। इसी लिये--चौथे नरक की आयुष्य पूर्ण करके भी वह भिन्न भिन्न भवो तक तिर्यंच आदि क्षुद्र भवों मे उत्पन्न होती रही। और धीरे धीरे इस का अकाम निर्जरा द्वारा अन्त हुआ।

कुशलानुवध का पुन प्रारम्भ

इस प्रकार "अकुशलानुबंध" का अन्त हो जाने के बाद बाईसवे भव मे विमल राजकुमार के भव से कुशलानुवध का पुन प्रारम्भ शुरु होता है। इस लिये अब बाईसवे भव का वर्णन करते है।

रथपुर नाम के नगर मे धर्म परायण प्रिय मित्र राजाकी पतिव्रता विमला रानी की कोखसे भगवान महावीर की आत्मा ने बाईसवें भव में पुत्र तरीके से जन्म लिया। गर्भकाल पूर्ण होने पर विमला रानीनें शुभ मुहूर्त में पुत्र को जन्म दिया।

(इक्कीसवें भव के बाद पीछे के न गिने जाते भवो में तिर्यंच आदि जो भव आए इनमें अकाम निर्जरा के कारण स्वरुप, अशुभ कर्म समाप्त हो गए और शुभ कर्मो का वध प्रारम्भ हो गया। इन शुभ कर्मो के कारण स्वरुप मनुष्य का जीव धर्मपरायण, राजा और पतिव्रता रानी के यहा भगवान महावीर की आत्मा ने पुत्र रुप जन्म पाया)

"सकाम – अकाम निर्जरा"

सकाम निर्जरा, यह सर्वोत्तम निर्जरा कहलाती है। जितनी इसकी प्रवलता होती है उतनी ही शीघ्रता से मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह वात जैनशास्त्रोमे प्रसिद्ध है।

परन्तु कई वार अकाम निर्जरा भी अमुक आत्मा को मोक्ष की अनुकूलतावाले साधनो को प्राप्त करने में सहायक रुप—हो कर साधक रूप मददगार हो जाती है। अमुक अवस्था में स्थित अकाम निर्जरा काफी समय के वाद तथा स्थिर रुप में भी अकाम निर्जरा ही रहती है, परन्तु अमुक अवस्थाओ में यही अकाम निर्जरा सकाम निर्जरा को नजदीक लाने में सहायक रुप हो जाती है।

एक वार सम्यग् दर्शन प्राप्त होने के वाद मिथ्यात्वको प्राप्त हुए जोवो को जीव की अकाम निर्जरा भी सकाम निर्जराको सापेक्ष रुप से कारण वन जाती है।

विमल कुमार .

पुत्र का जन्म हो जाने के वाद राजकुमार का चन्द्रमाके समान उज्ज्वल मुखमडल, उस का सौन्दर्य और उसमें स्थित निर्मल गुणो के कारण इस राजकुमार का नाम निर्मलकुमार रखा गया। छोटी आयुमें ही सर्व कलाके अभ्यासमे राजकुमार पारगत हो गया और यौवनकाल के प्रारभ मे ही प्रियमित्र राजाने उसे राज्यगद्दी पर विराजमान कर अपना सन्यास धर्म स्वीकार कर लिया।

विमल राजा न्याय परायण और भद्रक जीव था। उसकी अतर आत्मामें दया, करूणा, अनुकपा का प्रवाह वहता था। किसी भी दूसरे जीव के दुखको देख कर राजा विमल का हृदय दारूण

दुखसे मर जाता था। और वह उसके दुख का निवारण करने को तत्पर हो जाता। विश्व भूति के भवमें किये गए नियाणेका अव अत हो चुका है तथा नयसार के भव से प्राप्त सम्यग्दर्शन पर पडा आवरणका हट कट आत्मा पर अव—फिर अतरगमे नवीन प्रकाशका उदय प्रारभ हो चुका था।

राजा विमल की अनुकंपा

एक वार राजा विमल किसी कारणसे पासके एक जगल प्रदेश में गया। वहा उसने देखा कि एक शिकारी ने जाल लगा कर काफी सारे हिरण और हरिणियो के समूहको पकड रखा है। निरपराध इन पशुओ की दशा को देख कर वह अत्यन्त दया से भर गया। उस ने शिकारी को पास बुला कर उसे खूब अच्छी तरह से समझाया और उन विचारे पशुओ को वन्धन मुक्त करवा कर अभयदान दिलवाया।

इस प्रकार की अनेक कुशलानुबधी प्रवृत्तियो के कारण और भद्रक परिणामो के द्वारा विमल राजाने अगले भवके लिये भी मनुष्यकी आयुका वध किया।

शास्त्रो में ससारी आत्माओ की चार गतिया और इन चार गतियो के आयुष्य वंध के कारण का वर्णन है। इस में आरभ परिग्रह की अल्पता, और स्वभावकी भद्रकता ये मनुष्य जाति अथवा मनुष्य भव की आयुष्य के कारण रुप माना जाता है।

आगामी भवका आयुष्य वध मनुष्य के लिये, सामान्य तौर पर अपनी वर्तमान आयुष्य के दो भाग पूर्ण होने पर तथा तीसरे भागके वाकी रहने पर ही होता है। ऐसा शास्त्रो में कहा गया है। इस समय भी यदि मनुष्यका आयुष्य वध न हो, तो वाकी - रही

आयु के तीसरे भाग मे होता है। इस समय भी न हुआ तो फिर बाकी रही आयुके तृतीय अंशमें हो जाता है। इस तरह अंतिम अन्तरमुहूर्त में भी भविष्य का आयुष्यबंध तो हो ही जाता है।

चरित्रग्रहण .

राजा विमल के आगामी भव के लिये मनुष्य आयुष्यका बंध हो जाने के उपरान्त चालू आयु के काफी वर्ष बाकी थे--इन वर्षो में सद्‌गुरु के मुखसे धर्मदेशना सुन कर वह वैराग्य रंगसे रंग गया और राजा ने इस प्रकार चरित्र ग्रहण कर लिया।

चरित्र ज्ञानग्रहण करने के बादज्ञान—ध्यान संयम की आराधना में लीन रह कर विमल मुनि--एक तरफ से--संवर और सकाम निर्जरा द्वारा, संसार में भटकाने वाले अशुभ कर्मो को समाप्त कर आत्माकी पवित्रता पाने लगे और चरित्र ग्रहण करने से पूर्व किये गए मनुष्य भव की आयुष्य के कारण चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के अवसर आने पर छ खंड का वैभव प्राप्त करनेके अनुकूल साधन जमा करने लगे। साथ ही साथ फिर उस छ खंडके ऐश्वर्य को त्याग कर चरित्रग्रहण द्वारा वीर्योल्लास पैदा हो ऐसे पुण्यानुबंधी पुण्यका उपार्जन करने लगे।

चरित्र ग्रहण करने के बाद सराग संयम के कारण विमल राजा के आयुष्य का बंध हुआ होता तो वह स्वर्गलोकमें वैमानिक निकाय का देव बनता। और यदि देव के भवमें विरति का लाभ प्राप्त होता तो वह संसार कर्म बंधता।

परन्तु जिस आत्माका संसारी जीवन ही अल्पकाल वाला होता है, तथा उस की आत्मा की भवितव्यता भी उसी प्रकार की होती है।

जिससे सर्व विरतिकी आराधना शीघ्र प्राप्त होती हो-तो उसे अनुकूल सयोग भी अपने आप प्राप्त हो जाते हैं।

विमल राजाने जब जब मनुष्य की आयुष्य का बध किया तो उस समय उसमें सम्यग्दर्शन विद्यमान नही होना चाहिये। क्यो कि यदि सम्यग्दर्शन उस अवस्थामें विद्यमान होता है जब आयुष्य बध हो तो ऐसे समय उस राजा को देवगतिमें वैमानिक निकाय का आयुष्य बध ही होगा।

कभी कभी ऐसा भी बनाव बनता है ऐसे प्रसगमें कभी-सम्यग्दर्शन की गैर हाजरी में भवितव्यता ऐसी अनुकूल होती है कि जहा सर्व विरति की आराधना का अतिशीघ्र लाभ होता है। ऐसी परिस्थिति में मिथ्यात्व की मदता के कारण बधाई गई मनुष्य आयुष्य के बाद यदि सम्यग्दर्शन व सयम की प्राप्ति होती है और इसकी आराधनाके प्रसगमें सराग सयमके कारण स्वरूप सवर और सकाम निर्जराके साथ पुण्यानुबधी पुण्यका बध हो जाय तो इसके उपरान्त मनुष्य के भव में चक्रवर्तीपना और चरित्र दोनोका योग होता है।

विमल राजा के लिये भी ऐसा ही प्रसग बना। चरित्र ग्रहण करने के बाद निरतिचारपने में उसने सयमकी आराधना की, अन्त समय में समाधि पूर्वक कालधर्मको प्राप्त किया। इस प्रकार २३ वें भवमें विमल राजा (भगवान महावीर) रालकुल में राजकुमार के रूप में अवतार प्राप्त करते है।

१३

"भवों का विश्लेषण"

श्रमण भगवान महावीर देव की आत्मा बाईसवें भवमे विमल राजा के रूपमे राजा हुए और इंस विमल राजाने इसी भवमे वर्षों तक निरतिचारपने में संयम की आराधना कर एक महान रूप में जीवन समाप्त किया ।

नयसार के भव से लेकर विमल राजा के भव तक भगवान महावीर की आत्माने तीन वार संयम की आराधना की (१) तीसरे मरिचि के भव में, (२) सोलहवें विश्वभूति के भव में, (३) बाइसवें विमल राजा के भवमे ॥

परन्तु इसमे मरिचि और विश्वभूति के भवमे संयम की आराधना का योग प्राप्त होने पर भी, प्रतिकूल निमित्तो की उपस्थिति के समय सत्तामें आए हुए मोहनीय कर्म का जोरदार आक्रमण होने से ऐसा विचित्र वातावरण बना कि पंद्रहवें भव तक स्वर्गलोक और मनुष्यो के भवो के मिलते हुए भी भगवान की आत्मा को आरावना का योग प्राप्त ही न हुआ । और फिर विश्वभूति के भव से लेकर

इक्कीसवें भव तक भगवत की आत्मा को अकुशलानुबंध के कारण पूर्ण तथा आराधना से वंचित ही रहना पड़ा। सत्रहवें—देवभव, और अठारहवें वासुदेव के भव अतिरिक्त बहुधा, बाह्य और अभ्यन्तर दोनों प्रकार से दुःखों का भागी बनना पड़ा।

विकास क्रम में आरोह–अवरोह :

किसी भी आत्मा को (भव्यात्मा को) इस संसार क्षेत्रमे परिभ्रमण करते हुए "अनंतानंत पुद्गल परावर्तन" (अनंतकाल) व्यतीत होने पर जब भवस्थिति का परिपाक होता है तब सम्यग् दर्शन आदि रत्नत्रय का योग प्राप्त होता है।

परन्तु यह रत्नत्रयी (जब तक क्षयी भाव प्राप्त न हुआ हो) तब तक हर एक भव्य आत्मा मे चाहे वह भावी मे तीर्थंकर पद प्राप्त करने वाली आत्मा ही क्यों न हो, उसमे भी कई प्रकार का परिवर्तन करती रहती है।

सम्यग् दर्शन आदि प्राप्त होने के बाद—सामयिक आदि आवश्यक कृत्यों का यदि आलंबन जोरदार होता है तो क्षयोपम भाव से क्षायिक भाव की आराधना प्राप्त होने मे विलम्ब नहीं होता।

परन्तु सामयिक आवश्यक करनी का यदि जोर न हो और साथ साथ प्रतिकूल निमित्त मिलने के बाद आत्मा सजग न रहे, तो यह आत्मा आराधक भाव से खिसक कर विराधक भाव मे चली जाती है।

विकास क्रम इस प्रकार से होते हुए भी इतना सक्रिय है कि यदि एक बार भी इसे दो घड़ी का समय अंतरात्मा में आराधक

भाव प्रकट हो जाय तो प्रतिकूल निमित्तो की हाजरी मे मोहनीय कर्म के उदय से यदि आत्मा का अधःपतन हो भी जाय तो भी अधिक से अधिक "अर्ध पुद्गल परावर्तन" जितने समय मे भी आत्मा का उद्धार हुए बिना नही रहता।

सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयी का प्राप्त होना अत्यत दुष्कर है। परन्तु इसके प्राप्त होने के बाद प्रतिकूल सजोगो में–उत्तरोत्तर वृद्धि को पाना और आराधक भावना की स्थिरता तो अत्यन्त ही कठिन होती है।

गर्भावतार और माताको स्वप्न दर्शन :

बाइसवें भवमें विमल राजाके रूपमे सयमकी आराधनाके साथ समाधिपूर्वक आयुष्य पूर्णकर भगवान महावीर की आत्मा २३ वे भवमे पश्चिम महाविदेह क्षेत्र मे "मुका" नामकी नगरी मे महाराजा धनजय की पटरानी धारिणी देवी की कोखमें गर्भपने में आई।

जिस रात–धारिणी की कोख मे गर्भ रहा और उस में–भगवन्त की आत्मा आई–उस रात्रि मे उस आत्माके पुण्य प्रभाव के कारण धारिणी पटरानीने गज–वृषभ–आदि चौदह महास्वप्नोका दर्शन किया।

शास्त्रोमें ऐसा वर्णन है कि जब तीर्थंकर या चक्रवर्तीकी आत्मा माता की कोख मे आती है, अवतरित होती है तब दोनोकी माताओको चौदह महास्वप्न अवश्य ही दृष्टिगोचर होते है। परन्तु उन दोनोके स्वप्नोमें थोडा अन्तर होता है।

तीर्थंकर की माता गज—वृषभ आदि जो स्वप्न देखती हैं वे स्वप्न अत्यन्त तेजस्वी और विशिष्ठ प्रकार की कान्तिवाले होते हैं। तीर्थंकर भगवान की आत्मा को पुण्यवलकी अपेक्षा चक्रवर्तीका पुण्यवल क्षीण होता है इस लिये यह अन्तर पडता है।

स्वप्न फल समीक्षा

माता धारिणी स्वप्न देखनेके वाद तुरत जाग उठी—ऐसे दिव्य स्वप्न देखकर वह इनकी उत्तमता पर विचार करती हुई अत्यन्त हर्ष मे भर गई। पंचपरमेष्ठी नवकार मंत्र का पाठ करके धारिणी अपने स्वामी धनजय राजाके पास गई मधुर शब्दोसे उन्हें जगाया और अपने देखे हुए चौदह स्वप्नो—(गज-वृषभ आदि) का वर्णन अपने पति मे किया।

राजा धनजय भी पुण्यवान धर्मात्मा थे। अपनी रानी के मुख से इन कल्याणकारी स्वप्नो का वर्णन सुनकर राजाके हृदय में भी अत्यन्त आनन्द भर गया। और वह कहने लगा, "इन चौदह स्वप्नो के प्रभावसे भावी कालमें तुझे चक्रवर्ती पुत्र रत्न प्राप्त होगा" ऐसा कह कर राजा धनजय ने धारिणीको चौदह स्वप्नो का फल समझाया। धारिणीको अपने पतिके मुखसे—कल्याणकारी स्वप्न फल सुनकर अत्यन्त हर्ष प्राप्त हुआ और अपने शयन कक्षमें जाकर उसने वह रात्रि धर्मजागरण कर व्यतीत की।

मोक्षानुकुल—द्रव्य क्षेत्र—काल—भाव सामग्री

मोक्ष के लिये अनुकूल आराधना के लिये किसीकी आत्माको यदि—द्रव्य—क्षेत्र—काल—भाव इस प्रकारकी चार सामग्रियो का योग

सुयोग्य व सरल रूपसे प्राप्त हो जाय, तो यह भव्य आत्मा आराधना के द्वारा सभी कर्मोंका क्षय करके मोक्षकी प्राप्तिकी अधिकारिणी हो जाती है। कदाचित बाकी रहे हुए कर्मोंके कारणसे उसी भवमें मोक्ष प्राप्ति न भी हो इसके पश्चात् उसका प्रयाण तो मोक्ष की तरफ ही होता है।

मनुष्य जन्म, पचेंद्रियकी पूर्णता, "वज्रऋषभनाराच संग्रहण" —उत्तमकुल निरोग शरीर ये सब द्रव्य सामग्री रूप माने जाते हैं।

पाच भरत—पाच ऐरावत—पाच महाविदेह ये पन्द्रह कर्म भूमि और उसमें भी आर्यक्षेत्र ये क्षेत्र विषयक सामग्री है।

उत्सर्पिणी कालका तीसरा आरा और चौथे आरे (कालचक्र) का प्रारम्भ तथा अवसर्पिणी काल का तीसरे आरेका प्रान्त भाग और चौथे आरेका समय यह काल विषयक सामग्री है।

जब औपशमिक भाव और क्षयोपशम भाव यह परपरा तथा क्षायिक भाव यह अन्तरपने भावकी सामग्री—मोक्ष साधक सामग्री है।

भाव सामग्री की प्रधानता

मनुष्यको भव वगैरह द्रव्य सामग्री तो मिले परन्तु कर्मभूमि के क्षेत्रके स्थान पर अकर्मभूमि अथवा अन्तद्वीपका क्षेत्र प्राप्त हो अथवा इस से विपरीत कर्मभूमि क्षेत्र सामग्री तो मिले परन्तु मनृष्यको जन्मादि द्रव्य सामग्री न प्राप्त हो तो इस भव्य आत्माको, जीवको आराधनाका लाभ प्राप्त नही होता।

मनुष्य को भव—कर्मभूमि जैसा क्षेत्र तो मिले परन्तु भरत या ऐरावत क्षेत्रमे उत्सर्पिणी का पहला—चौथा—पाचवा—छट्ठा आरा अथवा

अवसर्पिणीका पहला—दूसरा तीसरा—छट्ठा—आरे मे जन्म प्राप्त हो तो भी आत्माको रत्नत्रयी आराधना के योग्य वीर्योल्लास प्रकट नही होता ।

मनुष्यको—जन्मादि द्रव्य सामग्री, कर्मभूमि आदि क्षेत्र सामग्री और मोक्षानुकूल समय काल सामग्री प्राप्त होने पर भी यदि भव्य आत्मा का उपादान परिपक्व न हुआ हो तो यह आराधनाके योग्य नही बनता ।

इस प्रकार भव्य आत्माओका "उपादान" परिपक्व भाव को प्राप्त हो और द्रव्य क्षेत्र-काल ये भी अनुकूल हो तो ही आत्माको मोक्ष प्राप्ति के लिए आराधना के लिए भावोल्लास प्राप्त होता है।

द्रव्य और भाव पुण्य

द्रव्य, क्षेत्र और काल की अनकूल सामग्री प्राप्त हो यह द्रव्य पुण्य कहलाता है । "जब उपशम भाव, क्षयोपशम भाव और क्षायिक भाव" के योग्य वीर्योल्लास प्राप्त हो यह भाव पुण्य कहलाता है । और इन दोनो के सहयोग का नाम "पुण्यानुबधी पुण्य" कहलाता है ।

श्रमण भगवान महावीर प्रभु की आत्मा नयसार के भवसे लेकर इक्कीसवे भव तक किसी भवके बीच द्रव्य और भाव के दोनो प्रकार के पापोदय के कारण, और किसी भव मे द्रव्य द्वारा पुण्योदय और भाव से पापोदय के कारण, किसी भव मे द्रव्य से पापोदय और भाव से पुण्योदय परतु बाईसवे भव-विमल राजा के जीवन मे द्रव्य भाव दोनो प्रकारके पुण्योदय की अनुकूलता को प्राप्त करती है।

वेदनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र, उन चार अघाती कर्मो की शुभ प्रकृतियोके उदय से द्रव्य पुण्य और अशुभ प्रकृतियो का उदय यह

द्रव्य पाप कहलाता है । जब ज्ञानावरण—दर्शनावरण मोहनीय और अतराय इन चार अघाती कर्मो के द्वारा, उसमें भी खास कर मोहनीय का उदय यह भाव पाप कहलाता है । और इस भाव का उपशम क्षयोपशम या क्षय यह भावपुण्य कहा जाता है । भगवान की आत्माने २३ वे भवमें मनुष्य भव प्राप्त किया । धर्मपरायण धनजय राजा, और सु—शीला धारिणी माता के यहा अवतार लिया । यह द्रव्य की अपेक्षा से उत्तम सामग्री है, जहा सदा ही अविच्छिन्न मोक्षमार्ग चालू है ऐसा पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की मूका नगरी जैसे क्षेत्रमे जन्म हुआ यह क्षेत्र की अनुकूल सामग्री है, जहा सदा मोक्षमार्ग की साधना के अनुकूल चौथा आरा का समय है यह काल प्रशस्त सामग्री है, और सम्यग् दर्शन आदि आत्मिक गुण ये भाव से उत्तम सामग्री है" ।

बाल मरण — पडित मरण

कोई भी आत्मा जब तक इस ससारमे है तब तक उस आत्माको जन्म मरणकी नियमित परपराका पालन करना ही पडता है । जिस स्थान पर जन्म होता है—उसी स्थल में उपर कहे प्रमाण से द्रव्य क्षेत्र—काल और भाव से प्रशस्त सामग्री प्राप्त हो इसका आधार पूर्व जन्मके मरण पर आधारित होता है । पूर्व जन्ममे यदि बाल मरण हो तो वर्तमान भवमें द्रव्यक्षेत्र—आदि चारो प्रकारकी सामग्री-उसमें भी भावकी अपेक्षासे प्रशस्त सामग्री प्राप्त होनेमे बाधा उत्पन्न होती है ।

परन्तु यदि पूर्व जन्ममे पडित-मरण हो तो वर्तमान भवमे प्राय द्रव्य-क्षेत्र आदि और उसमेंभी खासकर भावकी अपेक्षासे समुचित सामग्री अवश्य प्राप्त होती है और इस प्रकार इन चारो

प्रकारकी समुचित सामग्री मिलने के बाद यह आत्मा मोक्ष मार्गकी आराधना मे उत्तरोत्तर आगे बढती जाती है।

किन्ही अमुक कारणोसे यदि द्रव्यादि सामग्री उतनी अनुकूल न हो, तो भी भावकी अनुकूलता होने के कारण द्रव्यादि सामग्रीकी कमी मोक्ष प्राप्ति के मार्गमे बाधारुप नही रहती।

"मृत्युके समय में आत्माकी परभवमें-रमणता हो, तो यह बाल मरण कहलाता है।" और मृत्युके समय आत्मामें रमणताके साथ साथ—उसके योग्य आराधनामे लीनता रखती हो तो यह पडित मरण कहलाता है। आत्म स्वरुपको जानना यह सम्यग्ज्ञान कहलाता है। आत्म स्वरुपकी अभिरुचि होना—यह सम्यग् दर्शन है, और आत्म स्वरुपकी स्थिरता प्राप्त करना यह सम्यक् चरित्र कहलाता है।

इन तीनो गुणोकी अनुकूलता मे मरण हो तो वह पडित मरण कहा जाता है। और पडित मरण की स्थितिमे मृत्यु पाया हुआ मानव (आत्मा) का जीवन धन्य बननेके साथ परभवमे जहा उत्पन्न होता है—वहा सम्यग् दर्शन और अमुक हद तक सम्यग्ज्ञान आत्माके साथ जाते है।

कोइ भी आत्माको पूर्वभवमें विद्यमान चारित्र गुण परभवमे उसके साथ नही जाता परन्तु पूर्व भवमे की गई चरित्र आराधना के द्वारा की गई कषायोदयकी मदता और परभवसे साथमें आए सम्यग् दर्शन, सम्यगग् ज्ञान आदि जो गुण-होते है, यदि द्रव्य क्षेत्र कालकी अनुकूलता हो तो भाव सामग्री स्वरुप सर्वविरति चरित्र को वह आत्मा खींच लेती है। इस लिये जीवन मे पडित मरण और समाधि मरण को बहुत महत्व दिया गया है।

समाधि मरण की दुर्लभता

सामयिकादि आवश्यक क्रियामे अभिरुचि, और उनका अमल करना, समकित मूल बारह व्रतो को जीवनमे प्रत्यक्ष उतारना, और इससे आगे बढकर पचमहाव्रत रुपी चरित्रको ग्रहण करना यह उत्तरोत्तर कठिन कार्य है।

इतना होते हुए भी इसकी प्राप्तिके बाद—भी पडित मरण हो, यह तो और भी कठिन है। "एक तो पडित मरण प्राप्त हो, और अल्प समयमे ही भवका फेरा टल जाय," इसि लिये "जयजीवराय प्रणिवान सूत्र"मे "समाहिमरणच" इस पद द्वारा हमेशा प्रभुसे—"पडित मरण" की कामना की जाती है।

बाइसवे भवमे विमल राजाने चरित्र ग्रहण तो किया परन्तु सायमें चिरतिचार पने इस चरित्रका पालन भी किया। और अतमे पडित मरणका भागी बना। इसि कारणसे तेईसवें भवमें—द्रव्य—क्षत्र कालकी सर्वोत्तम सामग्री प्राप्त होनेके साथ पुण्यके प्रभावसे ६ खडके ऐश्वर्य की प्राप्ति और उसको भी त्याग कर सर्व विरति ग्रहण करने के सस्कारो की ज्योति प्रकट हो ऐसे धार्मिक वातावरण से युक्त राजा रानी के यहा, प्रभुकी आत्मा का जन्म हुआ।

१४

एक भव में से दूसरे भव में जाने का कारण

श्रमण भगवान महावीर प्रभु की आत्मा तेईसवें भव मे पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में मूका नगरी मे धनजय राजा की धारिणी नाम की राणी की कोख मे गर्भपन मे उत्पन्न हुई ऐसा तथा आगे वर्णन कर चुके है। अब यह आत्मा किसी भी गति या भव मे अपनी आयु पूर्ण कर उस गति या भवमे निकल कर चार गति, अथवा चौरासी लाख जीव योनि मे से किसी मे भी अपने शुभ अशुभ कर्मो के अनुसार योनि या गति मे जन्म प्राप्त करती है। एक जीवन का आयुष्य पूरा होने पर ही उस आत्मा को कहा जन्म लेना है। उसका असाधारण कारण उस आत्मा के गति नाम के साथ आयुष्य कर्म भी है। मानव जीवन, आर्य क्षेत्र आदि अनुकूल सामग्री प्राप्त होने के बाद जो आत्मा सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र आराधना कर सर्व कर्मो का क्षय करती है वह आत्मा ससार की किसी भी गति मे उत्पन्न होने स्वरूप किसी कारण के अभाव मे अजर, अमर, अनत सुख स्वरुप मुक्ति स्थान को प्राप्त करती है। परन्तु जो आत्मा उस स्थिति को अभी तक नहि पहुची और वर्तमान

भव की पूर्णाहुति अभी शेष है। और कुछ एक कर्मों का भोगना अभी बाकी है। ऐसी आत्माओ को चालू भव मे बंधे गतिनाम कर्म तथा आयुष्य कर्म के अनुसार उस गति मे उत्पन्न तो होना ही पडता है।

एक भवसे दूसरे भव मे जाने के लिये आत्मा को कितना समय लगता है ?

विमल राजाने बाइसवे भवमे मनुष्यगति नाम कर्म का बंध तथा मनुष्य का आयुष्य बंध किया था यह विवरण इसमे पूर्व के अध्याय मे सविस्तार विवेचन द्वारा किया जा चुका है। तथा कुछ विशिष्ठ पुण्य प्रकृतियो के कारण भगवान महावीर प्रभु की आत्मा विमल मुनि के भव मे से धारिणी माता की कोख मे पुत्र रत्न रूप मे उत्पन्न होती है। इस प्रकार पूर्व आयुष्य पूर्णता और नवीन गर्भ मे आने के बीच के समय को (इस आत्मा उस स्थान तक पहुचने के मध्यान्तर कालको) ऋजुगति की अपेक्षा से "एक समय" और विग्रह गति की अपेक्षा से दो चार अथवा कई बार "पाँच समय" भी लग जाते हैं। जिन शासन मे (जैनदर्शन में) काल की व्याख्या करते समय जो व्याख्या की गई है उस के अनुसार "आख के झपकने के एक क्रम में संख्या समय व्यतीत हो जाते है।" "समय" अर्थात काल का वह भाग जिसका आगे विभाजन नही हो सकता। आजकल डाक्टर या वैद्य जितने समय में (शरीर में चेतना शक्ति है या नहीं) शरीर की चेतना देखने का प्रयत्न मात्र करते है उतने समय मे तो यह आत्मा यहा से आयुष्य पूर्ण कर शरीर त्याग कर ऊपर कहे अनुसार दो अथवा तीन समय में नए उत्पत्ति स्थान में पहुच गई होती है।

ऋजु गति

यदि मरण आकाश प्रदेशो के ऊपर होता है तो आकाश प्रदेश मे से लोक स्थान तक पूर्व–पश्चिम–उत्तर–दक्षिण उर्ध्व अथवा अधो, इस प्रकार ६ दिशाओं में आकाश प्रदेशकी ६ श्रेणिया शुरु होती है। इन श्रेणियो में से किसी भी श्रेणी मे नजदीक अथवा असख्या सख्य योजन दूर उत्पन्न होना हो तो उत्पन्न होने वाली यह आत्मा को केवल एक समय लगता है और इस प्रकार इस उत्पन्न होने की पद्धति को जैन मे "ऋजु-गति" कहा जाता है।

विग्रह गति अथवा वक्रा गति

इसमें तरीका तो वही होता है परन्तु अन्तर इतना होता है कि मरण स्थान से, उत्पत्ति स्थान तक पहुचने मे आत्मा को दो या तीन समय लग ही जाते है। श्रेणी भेद के साथ "उत्तर" का भी भेद होता है, अर्थात् श्रेणी और उतर दोनो अलग अलग होते है तो तीन समय लगते है और यदि लोक भेद हो तो उत्पत्ति स्थान तक पहुचने में आत्मा को चार या पाच समय भी लग जाते है। रेलगाडी जिस प्रकार अपने पाटे (लाइन) पर चलने में शक्य होती है। उसी प्रकार आत्मा भी लोकाकाश मे स्थित आकाश प्रदेशो की पक्ति के ऊपर चलती है परन्तु टेढी मेढी नही चल सकती, और इस प्रकार दो तीन चार की समय की पद्धति के अनुसार उस क्रिया को जैन दर्शन में विग्रह गति अथवा वक्रा गति के नाम से पुकारा जाता है।

"तत्वार्थाधिगम सूत्र", "कर्म ग्रन्थ", "लोक प्रकाश", आदि ग्रन्थो में ऋजुगति अर्थात् विग्रह गति के के विषयो का सविस्तार वर्णन तथा निरुपन किया गया है।

उत्तम पुत्र रत्न की प्राप्ति मे माता पिता का भी विशिष्ट पुण्योदय

तेईसवे भव मे भगवान महावीर की आत्मा का माता धारिणी की कोख में जन्म ग्रहण करना, और होने वाली आत्मा के प्रवल पुण्य वल के कारण माता को उस रात्रि मे गज—ऋषभ आदि चौदह स्वप्नो का दर्शन पहले ही हम वर्णन कर आए हैं। इस गर्भ मे पुत्र रत्न उत्पन्न होना है, यह माता पिता के पुण्यो का भी तो उदय माना जाना चाहिए।

मानव जीवनमे कितने ही स्त्री पुरुष ऐसे होते है कि सतान के अभाव में उसकी प्राप्ति के लिये लाख तरह का यत्न करते हैं-भटकते हैं, कितने ही ऐसे भी है जो सतान प्राप्ति के उपरान्त उन सतानो से जो सुख प्राप्त होना होता है, उसके स्थान पर उन्हे असतोप —अशान्ति प्राप्त कर दुखी हो जाते हैं। कुछ माता पिता ऐसे होते है जिन्हे इन सतानो के द्वारा सदा सतोप और शान्ति का अनुभव और आभास ही प्रतीत होता है, ये सभी घटनाएँ अथवा अनुभूतिया पूर्व सचित पुण्य—पाप—शुभ—अशुभ कर्मो के कारण होती है।

प्रियमित्र चक्रवर्ती का जन्म और जन्मोत्सव का मनाया जाना

नव महीने लगभग का गर्भकाल समाप्त होने पर धारिणी रानी को पुत्र रत्न प्राप्ति हुई। धनजय राजाने पुत्रोत्सव महान धूम धाम मे मनाया। अनत उपकारी श्री जिनेश्वर देव की परम कल्याणकारी भक्ति के मगल प्रवाहरूप पूजा, अर्चना, स्थान स्थान पर दीन दुखिया को विपुल प्रमाण मे दान दक्षिणा और कैदखानो मे पडे गुनहगारो को स्वतन्त्रता, क्षमादान दिया गया। और इस प्रकार पुत्रका नाम करण सस्कार द्वारा "प्रियमित्र" नाम दिया गया।

बाल्यावस्थामे ही (जन्म जन्मांतरकी कीगई आराधना स्वरुप) प्रियमित्र कई विद्याओ मे पारगत हो गया। अनुक्रम से यौवन प्राप्त करने पर माता पिताने उसे राजगद्दी पर सुशोभित कर दिया और स्वय राजाने अपनी रानी धारिणी के साथ ससार से निर्वेद प्राप्त कर सयम ग्रहण करने के लिये भक्ति पूर्वक प्रणाम किया।

प्राचीन कालमे आर्यावर्त मे अध्यात्मवाद की प्रवलता

आज जब चारो तरफ जडवाद का वातावरण दिन प्रति दिन बढता जा रहा है, और भौतिक सुख की प्राप्ति के लिये सारा ससार अधो की तरह पागल हो दौड रहा है, इसके परिणाम स्वरुप आज के विश्व मे चारो तरफ अशान्ति—असतोप के अतिरिक्त और कुछ भी द्रष्टिगोचर नही होता है।

प्राचीन काल मे मानव जगत मानवता रुपी गुणसे भरपूर था। मानव जीवन में त्याग—वैराग्य और अध्यात्मवाद का मूल्याकन था, मृत्यु से पूर्व कम से कम एक दिन तो, सयम साधना होनी ही चाहिये, यह आर्य सस्कृति का मूल तत्त्व आर्यावर्त के मानवो में सदा जागृत था। अन्त समय मे भी सयम की साधना के विना यदि मानव की मृत्यु हो जाय तो उसका जीवन पूर्णतया निष्फल माना जाता था। इसी कारण मे राजा महाराजा लोग, महात्मा लोग, करोड पति, लक्षाधिपति तथा मध्यम वर्ग के मानव बधु जब जब समय मिलता बाल्यावस्था, यौवनावस्था, अथवा प्रौढावस्था मे भी आध्यात्म द्रष्टि के प्राप्त करने लिये सयम अथवा सन्यस्त धर्म की आराधना के लिये निकल जाते थे। यही नही, अपितु गृहस्थाश्रम के व्यवहार में भी त्याग वैराग्य और अध्यात्मवाद की पुष्टि को अग्रस्थान देने की भावना को प्रथम स्थान था।

राजा रानी की संयम साधना

राजा धनजय और रानी धारिणी की अन्तर आत्मा मे त्याग वैराग्य और अध्यात्मवाद का तत्व सदा विराजमान था। युवराज प्रियमित्र के यौवन काल प्राप्त होने पर उसे राजगद्दी सौप कर उसकी योग्यता जानकर राजा रानी सारा वैभव सुख ऐश्वर्य त्यागकर परिवार की ममता छोड कर आत्म कल्याण के लिये चरित्र ग्रहण करने योग्य गुरुदेव के पास पहुच गए—दीक्षा ग्रहण की—और ज्ञान, ध्यान, सयम के साथ तप सयम की आराधना करने लगे।

राज प्रियमित्र का निर्वेदमय जीवन

राजा प्रियमित्र की आत्मा पूर्व जन्म मे विमल राजा के भव मे सयम की सुन्दर आराधना के फल स्वरूप इस वर्तमान भव मे भोगोपभोग की सुन्दर सामग्री को प्राप्त कर चुकी थी परन्तु फिर भी उसका जीवन निर्वेद के रग मे रगा हुआ था। भोगोपभोग के उचित प्रसगो में भी राजा प्रियमित्र का दिल उदासीन था।

कोई भी सम्यग् द्रष्टि आत्मा को प्रबल कर्मों के वश ससार में रहना तो पडता है यह एक अलग बात है, परन्तु ससार अथवा संसार के बाह्य सुखो मे आत्मा की रमणता का सदा अभाव रहता है। प्रियमित्र की आत्मा की भी यही स्थिति थी।

राजा का राज्य पालन

माता पिता के सयम ग्रहण कर लेने के बाद प्रियमित्र नीति और धर्म से पूरी तरह प्रजा का पालन करने लगा। प्रजा के हृदय में भी अपने न्यायवान धर्म परायण राजा के प्रति अतीव

आदर भाव श्रद्धा भरपूर हो जाती है। दिन प्रति दिन यह भावना वढती रहती है और इस प्रकार प्रवल पुण्योदय के प्रभाव से प्रिय मित्र राजा के आगन मे धन, धान्य, ऋद्धि, सिद्धि आदि हर प्रकार के वाह्य सुख सामग्री वढती जाती है।

आज के मानव जगत की विषम स्थिति

आज का मानव—लक्ष्मी धन और वाह्य सुखो की प्राप्ति के लिये दौड लगाए दौड रहा है। और इस दौड के पीछे हिंसा, असत्य अत्याचार अनीति वगैरह उग्र पापो का सेवन मानव समाज कर रहा है। इतने पर भी ये भौतिक सुख लक्ष्मी की प्राप्ति उसे नही होती।

यदि प्राप्त हो भी जाती है तो अस्थिर रहती है। यदि अभय काल के लिये रहती भी है तो सुख के स्थान पर वह जीवन मे अशान्ति दुःख, क्लेश का कारण वन जाती है।

हमे कैसा जीवन जीना चाहिये ?

हमे अपना जीवन ऐसा वनाना चाहिये कि हमे स्वय लक्ष्मी को ढूढने न जाना पडे अपितु लक्ष्मी हमे खोजती आए ऐसा होना चाहिये। हमे शारीरिक अयोग्यता अथवा कष्ट निवारण के लिये डाक्टर अथवा वैद्य को ढूढने न जाना पडे, इसके स्थान पर आरोग्य जीवन अपने पीछे दौडता रहे। परन्तु यह तभी सिद्ध हो सकता है जव हम अपना जीवन ही आत्म कल्याण की भावना से परम पवित्र वीतराग प्रभु के शासन की यथोचित सुन्दर आराधना करे।

आराधना प्रसग में सकट और सकाम निर्जरा की मुख्यता :

राजा प्रियमित्र की आत्मा ने पिछले जन्म में सयम ग्रहण कर वीतराग प्रभु के पवित्र शासन की सुन्दर आराधना की थी। इस आराधना का मुख्य द्रष्टि विन्दु सवर और सकाम निर्जरा थे। इसके साथ २ विशिष्ट रसवाली पुण्यानुवधी पुण्य की प्रकृतिया वधी हुई थी और इन प्रवृत्तियो के विपाकोदय के कारण स्वरुप धनजय राजा के यहा जन्म, भोगोपभोग की हर प्रकार की सामग्री--साधन—उपलब्ध थे। इतना सव होने पर भी मोहनीय कर्म के विशिष्ठ क्षपोयशम होने के कारण प्रियमित्र की आत्मा को इन सामग्रियो से कोई लगाव नही था वे पूर्ण रूप से निर्लेप थे।

राजा प्रियमित्र—राज्य गद्दी प्राप्त होने के वाद धर्म, अर्थ और काम इन तीनो पुरुषार्थों के गौण मुख्यता की अपेक्षा से परस्पर कोई वाधा उत्पन्न न हो—इस के लिये सुन्दर तरीके से राज्य का पालन और प्रजा का सरक्षण करते हुए साथ साथ श्रावक धर्म का पालन उचित रुप से करता था, उचित दान, शील, तप और भाव चारो प्रकार से--धर्म की प्रशस्त आरावना में निरतर लगा रहता था।

राजा के पुण्य वल के कारण से—राज्य गद्दी प्राप्त होने के वाद धन—धान्य--ऋद्धि—सिद्धि आदि अनेक प्रकार से सुख सम्पति के साधनो की दिन प्रतिदिन वृद्धि--अभिवृद्धि उसे हो रही थी।

प्रियमित्र के भव मे चक्रवर्ती होने की योग्यता :

परन्तु राजा प्रियमित्र की पुण्य प्रकृति के विपाकोदय द्वारा प्राप्त होने वाले वाह्य सुखो की सामग्री सामान्य राज्य वैभव मे

ही पूर्ण होने वाली नही थी। प्रियमित्र राजाने अपने पुराने जन्म में जो सयम आदि मोक्ष साधक लागो की आराधना की थी उन के कारण मे मोहनीय कर्म का "स्थितिबध" तथा रसबध बहुत ही अल्प होने के बाद (आयुष्य कर्म सिवाय) बाकी के कर्मों की स्थिति का प्रमाण भी बहुत कम हो चुका था। उस में भी अघाती कर्म की पुण्य प्रकृतियो में विशिष्ट प्रमाण से ऐसा शुभरस अर्जन कर लिया था जिसके कारण और प्रभाव से प्रिय-मित्र के भव में भगवान महावीर प्रभु की आत्मा को चक्रवर्ती पद प्राप्त होना निश्चित सा हो गया था

त्याग के पीछे—भोग उपभोग की सामग्री

किसी भी आत्मा को मानव जीवन में चक्रवर्ती पन तभी प्राप्त होता है जब उसने पूर्व जन्म में त्याग कर्म की आराधना आचरणा की हो। त्याग के पीछे ही भोग की सामग्री प्राप्त होती है यह सामान्य नियम भी प्रसिद्ध है। भोगोपभोग की सामग्री प्राप्त होने के बाद यदि उस का त्याग नही होगा और उनमें ही (भोगों—के भोगने में ही आयु पूर्ण होनी होगी) लीनता रहेगी तो प्राय भावान्तर में उस आत्मा को भोगोपभोग की अनुकूल सामग्री प्राप्त नही होती और कदाचित् यह भोग—उपभोग की सामग्री प्राप्त हो भी जाय तो भी उस आत्मा को "भोगान्तराय" "उपभो-गान्तराय" आदि कर्मो के कारण ममन सेठ की तरह मिली का भोग-उपभोग नही मिलता।

अंतराय कर्म का वास्तविक भावार्थ

अतराय कर्म, दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, और वीर्यान्तराय इस प्रकार के पाच भाग में जानी जाती है। अनन्त

गुणो की स्वामी आत्मा को अनन्त ज्ञानादि गुणो की प्राप्ति और उन के योग्य सुपात्र दानादि-शील-तप-भाव आदि आराधना योग न मिलें उस का नाम सच्चा अन्तराय है। करोडो का वैभव -साथ मे भोग-उपभोग की विपुल सामग्री और बलवान तन्दुरस्त शरीर प्राप्त हो इतने से ही अन्तराय कर्म की मदता होती है अथवा अन्तराय कर्म का अभाव होता है" एसा मानना भयकर अज्ञानता है। चाहे कितनी भी धन सम्पत्ति क्यो न हो परन्तु आत्म हित को लक्ष्य में रखकर सुपात्र दान आदि की प्रवृत्ति यदि नही तो तत्त्व की दष्टि से अन्तराय कर्म का मदता नही है अपितु अन्तराय कर्म की तीव्रता होती है।

भोग-उपभोग की विपुल सामग्री प्राप्त होने के बाद जो आत्म कल्याण की भावना से शील धर्म, तपो धर्म की आराधना के लिये वीर्योल्लास न आए तो भी अ तराय कर्म की तीव्रता ही समझनी चाहिये। धन सपत्ति-और भोग-उपभोग की सामग्री यदि आत्मा के हित मे साधक रूप बनने की बजाय अहित करने मे मददगार हो तो भी अन्तराय की तीव्रता ही मानना चाहिये।

मोह की लघुता के साथ ही अंतराय की लघुता का सबध .

धन सम्पत्ति चाहे थोडे प्रमाण में हो -- भोग-उपभोग की सामग्री भी चाहे कम मात्रा में हो और शरीर में भी चाहे किसी कारण से निर्बलता हो फिर भी यदि दर्शन मोह तथा चरित्र मोह का यथोचित क्षयोपशम हो तो उस आत्मा के जीवन में— दान शील तप आदि मगलमय धर्म की यथाशक्ति आराधना तथा भावना अवश्य विद्यमान रहती है और उस आत्मा को अन्तराय कर्म तीव्र नही परन्तु मद कहा जाता है। अन्तराय कर्म की तीव्रता या मदता का मुख्य आधार क्रमश "मोहनीय" के उदय की तीव्रता तथा "मोहनीय" के उपशम— क्षयोपशम क्षायक भाव होते है।

जो जो आत्माए मोहनीय के तीव्र उदय वाली होती है उन आत्माओ का अतराय आदि सभी कर्म तीव्र गिने जाते है। जिन आत्माओ को "मोहनीय" का उपशम क्षयोपशम क्षायक भाव प्राप्त होता है उन आत्माओ का अन्तराय आदि सभी कर्म मद गिने जाते है।

धर्म की आराधना का वास्तविक फल

धर्मकी आराधना का वास्तविक फल– धन सम्पत्ति या भोगोपभोग की विपुल सामग्री की प्राप्ति नही है, परन्तु मोह का उपशम– क्षयोपशम अर्थात मोह की मदता और परपरा से मोह का अभाव होने में है। मोह कर्म का यदि एक बार उपशम या क्षयोपशम हो जाय तो बाकी के सभी कर्मो की लघुता होने में देर नही लगती। इसी कारण से मोह की अल्पता करने की सद्भावना, सद् आशय ही धर्म की आराधना का मूल है, ऐसा जैन शास्त्रो मे स्थान स्थान पर लिखा गया है। इसी सदाशय से जो भाग्यवान आत्मा धर्म की आचरणा करती है उसे सम्यग् दर्शनादि आत्मिक गुण वैभव की प्राप्ति के साथ, बिना परिश्रम के चक्रवर्तीपना या इन्द्रादि पद का वैभव स्वमेव प्राप्त हो जाता है।

विमल मुनि के भव की आराधना :

भगवान महावीर प्रभुकी आत्माने भी बाईसवे विमल राजा के भव में सयम ग्रहण करने के द्वारा, सम्यग् दर्शनादि रत्नत्रयी की सुन्दर आराधना की थी और इस आराधना के फल स्वरूप भगवन्त की आत्मा मे मोहनीय कर्म की विशिष्ठ प्रमाण मे कमी हो गई थी और इस आराधना मे निहित मन–वाणी–काया के योगो द्वारा भगवान महावीर की आत्मा ने ऐसी उत्तम पुण्य

प्रकृतियों का उपार्जन किया था कि जिन के प्रभाव से तेरहवें भव मे उन्हें चक्रवर्तीपने का वैभव प्राप्त होना था।

तीर्थंकर नामकर्म के अन्तर्गत गणधर आदि नामकर्म

नाम कर्म की कुल ८३ अथवा १०३ उत्तर प्रकृतियों मे आठ प्रत्येक प्रकृतियों से तीर्थंकर नाम कर्म की कर्म प्रकृति सुप्रसिद्ध है। उस तीर्थंकर नाम कर्म का जब विपाकोदय होता है तब आत्मा जिस प्रकार देवाधिदेव तीर्थंकर पद प्राप्त करती है उसी प्रकार से इस तीर्थंकर नामकर्म के अ तर्गत गणधर नामकर्म-- आचार्य नाम कर्म उपाध्याय नामकर्म और चक्रवर्ती नाम कर्म वगैरह अवातर विभागवाली कर्म प्रकृतिया शास्त्र के विरुद्ध न जाए ऐसा विचार कर अपनी वुद्धि अनुसार समझना चाहिये

द्रव्यदया और भावदया का भावी फल

मानवजीवन मे द्रव्यदया, भावदया ये दोनो प्रकार की दया मे यदि पराकाष्ठा आ जाए तो वह आत्मा शान्तिनाथ भगवान आदि तीर्थंकरो की तरह एक ही भव मे चक्रवर्तीपन तथा तीर्थंकर पद प्राप्त हो इस योग्य नामकर्म उपार्जन कर लेती है। मानवजीवन में द्रव्य दया होते हुए भी द्रव्य दया की अपेक्षा भावदया की अत्यन्त प्रधानता हो तो वह आत्मा राजा महाराजा के तौरपर अवतार प्राप्त करने के साथ साथ तीर्थंकर पन प्राप्त होने योग्य ऐसे तीर्थंकर नामकर्म का बध कर लेती है।

मानव जीवन में भावदया का अतर आत्मा में स्थान होते हुए भी, भावदया की अपेक्षा यदि द्रव्य दया की महत्ता हो तो वह आत्मा द्रव्य दया के कारण चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के साथ भाव चारित्र प्राप्त करती है और उस नाम कर्म के कारण पुण्यानुबंधी

पुण्य प्रकृति का बंध कर अनंतर अथवा एकान्तर भव मे ही चक्रवर्ती पद प्राप्त करने के बाद अवसर आनेपर ६ खंड का वैभव छोड कर संयम धर्म की आराधना के लिये चल देती है।

मानव जीवन मे भावदया का अभाव होने के साथ केवल द्रव्य दया की ही प्रधानता हो तो इस द्रव्य दया के पीछे एकान्त मे यदि भौतिक सुख की अभिलाष भरी हो तो यह आत्मा मनुष्य के भव मे उत्पन्न हो तो ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के समान पापानुबंधी पुण्य तरीके से चक्रवर्ती पद को प्राप्त करती है और आयुष्य पूर्ण कर बाद मे नरक गति मे जन्म लेती है।

लोकोत्तर—और लौकिक अधिकारो का हेतु ?

वीतराग द्वारा बताए गए—शुद्ध धर्म की छत्रछाया मे रहकर निरतिचार रूप में आराधना करने के साथ आत्म कल्याण की साधना करनी यह एक उत्तम मार्ग है। इतना होने पर भी संख्य—असंख्य वर्षो तक हजारो लोग—आत्माए आत्म कल्याण की आराधना करें इस हेतु से धर्मतीर्थ की स्थापना करनी, प्राण का भोग देकर इस तीर्थ का रक्षण करना, ये सभी तीर्थकर पद गणधर पद-आचार्यपद-उपाध्यायादि पद वगैरह लोकोत्तर अधिकारो की अनुकूलता प्राप्त होने मे भावदया की प्रधानता के साथ साथ उसकी तरतमता के मुख्य कारण है।

उन मे भी चक्रवर्ती पन, वासुदेव पन, प्रतिवासुदेव पन, अथवा राजा महाराजा-महामात्य-नगरसेठ आदि लौकिक अधिक प्राप्त होने में द्रव्य दया की तरतमता हेतुरूप होती है।

द्रव्य दया—भावदया की संक्षिप्त व्याख्या

"आज द्रव्य दया की कोई आवश्यकता नही है" यदि कोई ऐसा कहता है तो यह ठीक नही है। उसी प्रकार से भावदया को

अकेले छोड–द्रव्य दया की प्रवृति को ही प्रधानता देना यह मार्ग भी बराबर नही है। द्रव्य दया के स्थान पर द्रव्य दया की महानता है और भाव दया के स्थान पर भाव दया की मुख्यता है। द्रव्य दया यह भौतिक सुख का साधन है और भाव दया यह आत्मिक सुख का साधन है। छ काया के जीवो की रक्षा करना, दीन दुखियो की सेवा, बीमारो की सेवा सुश्रुषा करनी और मूल संस्कृति की अवहेलना न हो इस प्रकार से उन के लिये औषधालय आदि समाजोपयोगी कार्यों की स्थापना करनी, आदि द्रव्य दया के प्रकार है। तथा स्वय धर्म की आराधना करने के साथ साथ अन्य आत्माओ को भी शुद्ध धर्म की प्राप्ति करवानी और उनके साधन-रूप साते। क्षेत्रोका पोषण सरक्षण देना इसका नाम भाव दया कह-लाता है।

विमल राजा द्वारा उपार्जित पुण्यानुबंधी पुण्य

श्रमण भगवान महावीर—प्रभु के आत्ममदीर में (बाईसवे) भव मे विमल राजा के भव में) भावदया को स्थान तो अवश्य था परन्तु भावदया की अपेक्षा द्रव्य दया को प्रधानता–अधिक थी। ईस कारण एक ही भव मे चक्रवर्ती पन तथा भावसाधुपन दोनो प्राप्त हो ऐसे पुण्यानुबंधी पुण्य कर्म का उपार्जन हुआ। ईस कारण से तेईसवें प्रिय मित्र के भव मे उसे चक्रवर्ती पन–तथा चौदह रत्न और नव निधान प्राप्त हो–ईस के योग्य विपाकोदय शुरु हुआ था।

१५ कर्म भूमियो में चक्रवर्ती :

पाच भरत–तथा पाच ऐरावत, ईस प्रकार दश क्षेत्रो मे एक अवसर्पिणी तथा एक उत्सर्पिणी दरम्यान कुल बारह बारह चक्रवर्ती होते

है। पांच विदेह मे जिस प्रकार तीर्थंकर भगवानो की कुछ न कुछ सख्या तो होती ही है उसी प्रकार से—कम प्रमाण में (जघन्य—मध्य अथवा उत्कृष्ट) सख्या मे चक्रवर्ती भी विद्यमान होते है। भगवान महावीर की आत्मा को पाच ऐरावत क्षेत्रो में किसी भी क्षेत्र का चक्रवर्ती पन प्राप्त नही हुआ परन्तु महा विदेह क्षेत्र की वत्तीस विजयो में से एक विजय के कारण ६ खड का स्वामी तरीके से चक्रवर्तीपने का वैभव प्राप्त हुआ है। पन्द्रह कर्म भूमियो में किसी भी कर्म भूमि मे उत्पन्न होनेवाले चक्रवर्ती को जीवन में चक्ररत्न वगैरह चौदह रत्न तो अवश्य प्राप्त होते है।

१५

"पचेन्द्रिय सात रत्न"

चक्रवर्ती के चौदह रत्नो का सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार से है।

(१) सेनापति – ६ खडो के सभी-देश-प्रदेशो को साधने के कार्यमे यह सेनापति रत्न मुख्य रूपसे सहायक होता है।

(२) गाथापति – सर्व प्रकारके धान्य तथा रसोई आदि तैयार करने में यह गाथापति रत्न मुख्य कार्यसाधक होता है।

(३) पुरोहित – रणसग्राम आदि प्रसगो में सैनिको आदिके शरीर में लगे घाव-आदिको मलम-पट्टी-दवा-भेषज द्वारा-मिटानेके कार्यमें तथा छोटेमोटे दूसरे रोगोके उपचारमे मददगार हेतु-शातिक-पौष्टिक कार्य में सलग्न यह रत्न सहायक होता है।

(४) वार्धकि – छोटे–बडे राजमहल आदि स्थानो का बाधकाम तथा रणप्रसग में--डेरा–छावनी–तम्बु बसाने मे यह वार्धकी रत्न मुख्य उपयोगी होता है।

(५) (६) हस्ती तथा अश्व – ये दोनो रत्न चक्रवर्तीकी सवारी करने के उपयोगमें आते है। इस हस्तीरत्न अथवा अश्वरत्नके ऊपर सामान्य चक्रवर्तीके सिवाय दूसरे किसीको सवारी करने का

अधिकार नही होता। कैसे भी प्रवल शत्रु क्यो न हो परन्तु ये दोनो रत्न चक्रवर्तीको अवश्य ही विजय वरमाला पहनाते है।

(७) स्त्री रत्न – पाचो इन्द्रियोके सुख–इन्द्रिय जन्य विषय सुख की अनुकूलतामे इस स्त्री रत्नका उपयोग होता है। चक्रवर्तीके सिवाय इस स्त्री रत्नका उपयोग करनेकी शक्ति किसीमे नही होती।

इन उपर कहे हुए सात रत्नो में से प्रथमके चार रत्न चक्रवर्तीकी अपनी राजधानीमें ही पैदा होते है। स्त्री रत्न वैताढ्य पर्वत पर विद्याधरो के नगरोमेंसे किसी भी नगरमें उत्पन्न होता है। गज–अश्व रत्न ये दोनो भी वैताढ्य पर्वत के मूलमे पैदा होते है ये सातो पचेद्रिय रत्न कहलाते है।

एकेन्द्रिय सात रत्न

वाकी के चक्र आदि सातो रत्न एकेन्द्रिय है। उनका सक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है।

(१) चक्ररत्न – चकवर्ती ६ खडकी साधनाके लिये प्रयाण करता है तव चक्ररत्न अपनेआप सवसे आगे चलता है और चक्रवर्ती तथा सेनाओको मार्ग दिखाता है।

(२) खड्ग् रत्न — आवश्यक्ता पडने पर शत्रुका सिर काटनेके लिये उपयोगमे आता है।

(३) छत्र रत्न – सामान्य रूपसे यह छत्र रत्न–एक धनुष्य प्रमाण का होता है। परन्तु यदि चक्रवर्ती चाहे–तो आवश्वक्तानुसार इस छत्र को अपने हाथसे छु कर वारह योजन जितने विस्तार मे छाया कर सकता है।

(४) चर्म रत्न — सामान्य रूप में इस रत्न का प्रमाण दो हाथ का होता है। परन्तु प्रसग विशेष में चक्रवर्ती का हाथ लगते ही

यह बारह योजन प्रमाण तक विस्तार पा जाता है । इससे प्रात काल बोया हुआ अनाज--धान्य--फलादि सायकल तक पक कर तैयार हो जाते है यह इस रत्नकी शक्ति है ।

(५) दड रत्न — इस रत्न का प्रमाण एक मनुष्य अथवा चार हाथ प्रमाण का होता है । रण सग्राम आदि के समय मार्ग में कैसी भी उची नीची टेडी वाकी ' पृथ्वी हो उसे समतल--सपाट करने का यह कार्य इस रत्नका है । इसके वाद एक हजार योजन प्रमाण भूमि को चीरना पडे--तो यह दड रत्न उस को चीरने में समर्थ होता है । इस प्रकार ६ खडकी साधनामे "तमिस्त्रादि" गुफाओ के मुख खोलने आदि के प्रसगमें यह उपयोगमे आता है ।

(६) मणिरत्न — चार अगुल लम्बा, और दो अगुल चौडा यह रत्न होता है । इस मणिरत्नका ऐसा अनूठा प्रभाव होता है कि यह--हाथमें बाधा जाय या सिर पर धारण किया जाय, यह सर्व प्रकारके रोगोका विनाश करता है और इस मणिरत्न का प्रकाश बारह बारह योजन तक फैलता है ।

(७) काकिणी रत्न — छ खडकी साधनाके प्रसगमे वैताढ्य पर्वत की गुफा में दोनो तरफ दीवारो पर ४९—४९ माडले करनेमे इस का उपयोग होता है । इस रत्न का प्रमाण चार अगुलका होता है ।

इन सात एकेद्रिय रत्नो में से चक्र--खड्ग्--छत्र और दड ये चार रत्न स्वयमेव--चक्रवर्ती की आयुध शाला में उत्पन्न होते है । चर्म मणि--काकिणी ये तीन रत्न लक्ष्मी भडार में उत्पन्न होते है ।

नवनिधानो के नाम

चक्रवर्ती को जिन नवनिधानो की प्राप्ति होती है । वे गगा नदी के मुखके पाससे प्राप्त होते है ।

(१) नैसर्प (२) पाडुक (३) पिगल (४) सर्वरत्न (५) महापद्म (६) काल (७) महाकाल (८) माणवक (९) शख इस प्रकार ये नवनिधानो के नाम है। जिस क्रमसे इन निधानो के नाम है उसी प्रकार से अनुक्रम से इन क अधिष्ठायक देवोके भी नाम है और हर देवकी एक पल्योपम प्रमाण (असख्य वर्प) आयु होती है।

चौदह रत्न और नवनिधान का प्रभाव :

इन चौदह रत्न और नवनिधानो क प्रभाव भी अलौकिक और अचिन्त्य है। एक एक रत्न और निधान के पीछे एक एक हजार यक्ष--अधिष्ठायक रूप से विद्यमान रहते है। और दो हजार यक्ष तो वैसे भी चक्रवर्ती की सेवामे सदा हाजिर रहते है। इस प्रकार कुल पच्चीस हजार यक्ष चक्रवर्ती की सेवामें सदा उपस्थित रहते है। चक्रवर्ती मनुष्य की सेवामे यक्ष अर्थात देवता रहे यह सब प्रभाव चक्रवर्ती को अपने पूर्वजन्म के किये हुए धर्म की आराधना से मिलता है।

तीर्थंकर प्रभु के सिवाय, सब मनुष्यो में चक्रवर्ती का पुण्य वल और उस के प्रभाव से शारीरिक अथवा दूसरा किसी भी प्रकार का वल सर्वोत्कृष्ट होता है और ईस कारण से चक्रवर्ती को नरदेव भी कहा जाता है।

चक्रवर्ती का अभिषेक महोत्सव

चक्रवर्ती का जन्म होने के वाद यौवन काल में जव राज गद्दी प्राप्त होती है तव उस की आयुधशाला में सर्व प्रथम चक्र रत्न उत्पन्न होता है और इस के वाद वारी वारी से दूसरे रत्नो की उत्पत्ति होती है। ईस अवसर पर रत्नो की उत्पत्ति की खुशीमें चक्रवर्ती महोत्सव करता है और उसके वाद ६ खड की साधना के लिये चक्रवर्ती का प्रयाण चालू होता है। उस चक्रवर्ती के

पुण्य वल के कारण ६ खड के छोटे वडे राजा उस की आज्ञा मानने को तत्पर हो जाते है और फिर देवताओ की सहायता से– ये राजा लोग-- ६ खड की प्रजा--चक्रवर्ती का चक्रवर्ती रूप में अभिषेक करती है।

चक्रवर्ती के दो विभाग :

चक्रवर्तीयो में भी दो विभाग होते है। एक पुण्यानुवधी पुण्य वाले, और दूसरे पापानुवधी पुण्योदय वाले, । द्रव्य धर्म और भाव धर्म की आराधना करके आया हुआ पुण्यानुवधी पुण्योदय वाला होता है, और केवल द्रव्य धर्मकी आराधना करके आया हुआ अथवा नियाणे द्वारा आया चक्रवर्ती- पापानुवधी पुण्य का उदय वाला होता है।

पुण्यानुवधी पुण्य वाला चक्रवर्ती--अपने सर्वस्व वैभव को त्याग कर अवसर आने पर सयम के पुनीत मार्गका अवलवन करता है और मोक्ष या स्वर्ग को प्राप्त करता है।

पापानुवधी पुण्यवाला चक्रवर्ती--जो नियाणे द्वारा उस पदवी को प्राप्त कर आया होता है वह आयुष्य के अतिम भाग तक आरम परिग्रह मे मस्त रहता है और आयुष्य पूर्ण कर अवश्य ही नरक गति को प्राप्त करता है।

ईस अवसर्पिणी के वारह चक्रवर्ती

ईस भरत क्षेत्र मे वर्तमान अवसर्पिणी काल मे वारह चक्रवर्ती हुए। किन किन तीर्थंकरो के शासन काल मे वे हुए और आयुष्य की समाप्ति पर वे कहा गए ? उन का सक्षिप्त क्रम ईस प्रकार है।

१ प्रथम चक्रवर्ती–भरत महाराज--प्रथम तीर्थ कर श्री ऋषभ देव जी के शासन कालमें हुए। गृहस्थाश्रम में ही शीशे के भुवन में

क्षपक श्रेणी मे आरुढ हो केवल ज्ञान को प्राप्त हुए और उस के वाद स्वलिंग में पृथ्वी तल पर विचरण करते हुए चार अघाति कर्मों का नाश कर मोक्ष गए।

(२) दूसरे सगर चक्रवर्ती- अजितनाथ भगवान के शासन मे हुए और समय आने पर सयम तप ग्रहण कर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष मे गए।

(३) तीसरा—मघवा नाम का चक्रवर्ती—पन्द्रहवे धर्मनाथ भगवान के शासन मे

(४) चौथे सनत्कुमार चक्रवर्ती— शान्तिनाथ महाप्रभु के शासनकाल में दोनो समयानुसार सयम ग्रहण कर आयुष्य पूर्ण कर तीसरे देवलोक में गए।

(५) पाचवा चक्री— शान्तिनाथ प्रभु— छट्टा चक्रवर्ती कुथुनाथ भगवान, सातवा चक्री अरनाथ प्रभु-ये तीनो तीर्थकर भी थे और गृहस्थाश्रम मे चक्रवर्ती भी थे। एक ही भव में चक्रवर्ती तथा तीर्थकर दोनो ही पदविया उन्हें प्राप्त हुई और ये तीनो मोक्षगामी हुए।

(८) आठवा चक्रवर्ती सुभूम अठारवें व उन्नीसवें तीर्थकर के काल में हुआ अर्थात् अरनाथ प्रभु के निर्वाण के वाद उन्ही के शासन काल में चक्रवर्ती हुआ, परन्तु पापानुवधी पुण्य के उदय के कारण शासन की आराधना न कर सका और आरम्भ परिग्रह की वहुलता के परिणाम स्वरूप सातवें खड की साधना को जाते समय, सातवे नरक में गया।

(९) नवमा चक्रवर्ती श्री पद्म चक्रवर्ती हुआ—दशमा हरिषेण चक्रवर्ती

(१०) ये दोनो वीसमे तीर्थकर मुनिसुव्रत स्वामी के निर्वाण

के पीछे उन के शासन मे उत्पन्न हुए। और सयम ग्रहण करने के साथ त्रिकरण योग से शासन की आराधना कर के सर्व कर्म क्षय करके मुक्ति धाम पहुचे।

(११) श्री जय नाम का चक्रवर्ती– इक्कीसवे तीर्थकर श्री नमिनाथ महाप्रभु के शासनकाल में हुआ और शासन की सर्वांग सुन्दर आराधना कर सभी कर्मों को क्षय कर सिद्धि पद को प्राप्त हुआ।

(१२) बारहवा ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती—बावीसवें तीर्थकर श्री नेमिनाथ महाप्रभु, के शासन काल मे हुआ। तेईसवे तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ प्रभु यह चक्रवर्ती विषयो की आसक्ति की तीव्रता के कारण आयुष्य पूर्ण कर सातवें नरक को प्राप्त किया।

इस प्रकार कुल बारह चक्रियो मे से सुभूम और ब्रह्मदत्त ये दो ही चक्रवर्ती पापानुबधी पुण्योदय वाले—और बाकी के दश चक्रवर्ती पुण्यानुबधी पुण्योदय वाले थे। नरकगामी दोनो चक्रवर्ती मिथ्या दृष्टि, आरम्भ परिग्रह और विषय कषाय मे लिप्त थे। जबकि दस चक्रवर्ती सम्यग् दृष्टि चक्रवर्ती के ऐश्वर्य को भी बधन रूप मानने वाले और आत्मा की मुक्ति के लिये पुरुषार्थ करने वाले थे।

प्रियमित्र चक्रवर्ती

भगवान महावीर प्रभु की आत्मा तेईसवें भवमें महाविदेह क्षेत्र की मुका नगरी में प्रियमित्र चक्रवर्ती के रूपमें पदार्पण करती है। और सम्यग् दृष्टिपने से, पुण्यानुबधी पुण्य के उदय वाली होने के स्वरूप चक्रवर्ती पने का सुख ऐश्वर्य प्राप्त होते हुए भी वे सदा उस से उदासीन रहे।

जिस प्रकार शीतल चन्दन से भरे वन को अग्निदाह कर राख कर देती है उसी प्रकार धर्म जनित मानवके मनको यह मोह और भोग जला कर स्वाहा कर देते हैं ।

उपाध्याय महाराज द्वारा कहे गए इस वचन के अनुसार ससार के भोग उपभोगमे उस प्रियमित्र का मन सदा उदासीन था । और वह सदा इस विचार में लीन था कि "कब वह आत्म कल्याण के मार्ग पर प्रयाण का भाग्योदय देखे"

किसी भी सम्यग् दष्टि आत्मा को यदि अन्तर आत्मा मे सम्यग् दष्टि का दीपक प्रकाशमान दष्टि गोचर होता है तो इस आत्मा का योग, उपयोग मे आत्म हित की ओर परिवर्तन होही जाता है ।

सम्यग् दर्शन प्राप्त होने से पूर्व अनन्त कालमे पाप के तौर पर जरा भी पहचान उस आत्मा को हुई ही नही थी, यदि कभी एसा प्रसग हुआ भी हो तो श्रुत सामयिक के कारण हुई भी हो तो पाप की प्रवृत्ति से छूटने की अभिरुचि तो प्रकट नही हुई होगी ।

ससार की स्थिरता का कारण अठारह पापस्थान है ।

अनन्त काल से इस आत्मा को ससार और जन्म मरण की परपरा अविछिन्न रुप से चिपटी हुई तो है ही । इस का असाधारण करण—अनादिकाल से खुले हुए अठारह पापस्थान है ।

अव्यवहार राशिमे अनत काल तक यह आत्मा रही—तो इस वीच भले ही कामयोग में (क्रिया में) इन पाप स्थानको का सेवन स्थूल दष्टि से नही था, परन्तु भाव मे तो ये सभी द्वार खुले ही थे ।

पृथ्वी—जल—आदि बादर एकेन्द्रिय मे पाप भाव से तो चालु ही थे। दो इन्द्रिय आदि जीवो के भव मे भी आत्मा की यही स्थिति थी। सज्ञि पचेन्द्रिय तौर पर देव—नारक—तिर्यंच और मनुष्य भव मे यह आत्मा भूतकाल मे अनेको वार उत्पन्न हुअी परन्तु भव स्थितिका परिपाक न होने के कारण—प्राणातिपात मृषावाद आदि पापो को पाप रुप नही जाना और यदि जाना तो उस उस प्रमाण मे श्रद्धा रुप से माना नही और इस के परिणाम स्वरुप यह द्वार सदा खुले रहने के कारण प्रतिक्षण कर्म वधन चालू रहा और इस प्रकार ससार भी टिका रहा।

सम्यग्ज्ञान—दर्शन चरित्र का सच्चा रहस्य

इन अठारह पापो को पापरुप जानना इसी का नाम सम्यग् ज्ञान है। पापो को पापरूप जानने के बाद-इन से दूर रहने की अभिरुचि उत्पन्न हुई इसका नाम सम्यग् दर्शन, और धीरे धीरे इन अठारह पापस्थानो का त्याग करने का पुरुषार्थ करना इसका नाम सम्यग् चरित्र कहलाता है। धर्म की यथार्थ व्याख्या कुछ भी हो, परन्तु "आत्मकल्याण की भावना से पाप के द्वार को वद करना" यह तो है। सामयिक आदि ६ प्रकार के "आवश्यक" जो किये जाते हैं उनका तात्पर्य यदि हम समझते हैं—उसी प्रकार से यदि समझने का प्रयत्न हम करे तो प्रतीत होगा कि इन "६ आवश्यको" का तात्पर्य "त्रिकरणयोग से पाप का प्रतिवध" ही मुख्य उद्देश्य है।

कितना ही पुण्य कमाया जाय, परन्तु यदि ये अठारह पापवधन न घटे तो उसका नाम सच्चा धर्म नही। पुण्य वध से—फल स्वरुप स्वर्ग प्राप्ति होगी। परन्तु—पाप तो कम नही हुआ—ऐसी हालत में जन्म मरण की परपरा चालू ही रहेगी।

प्रभु से भी—पाप से बचने की मांग

आत्म मदिर में सम्यग् दर्शन प्रकट होता है तो आत्मा में पाप के स्वयमेव घृणा उत्पन्न हो जाती है। अनिवार्य सयोगो में यदि कोई पापाचरण हो भी जाती है तो आत्मा को उस के लिये महान पश्चात्ताप होता है, और प्रतिक्षण एक ही भावना उत्पन्न होती है कि इस पापाचरणसे कैसे छुटकारा मिले ? ऐसी आत्मा जब प्रभु दर्शन को जाती है तो—कभी—धन—दौलत अथवा—बाग बगला आदि की कामना कभी नही करती परन्तु उसकी प्रार्थना मे, कामना मे, भावना मे एक ही विचार होता है—"हे भगवन् मेरी आत्मा किसी भी प्रकार से—पापाचरण मे से बचे और मुझे उस के लिये बल दो—शक्ति दो" उसकी यही मागे होती है।

प्रियमित्र चक्रवर्तीकी ससार सुखके प्रति उदासीनता

आपना प्रियमित्र चक्रवर्ती सम्यग् दृष्टि होने के कारण उसकी आत्मा मे भी पापो से निवृत्त होने की भूख है, खलबली मची हुई है। निकाचित भोगावली कर्मो के कारण भले ही यह आत्मा गृहस्थाश्रम में रही है और इसे ६ खडका अखड साम्राज्य ऐश्वर्य का स्वामित्व प्राप्त हुआ है परन्तु उन सब मे प्रियमित्रको कोई रस नही दीखता, आनन्द प्राप्त नही होता परन्तु इन सब के प्रति वह उदासीन रहता है। उसकी भावना तो यही है "कब उसे कोई महाव्रतधारी साधु मुनिराज मिले, दर्शन का योग हो और वह उनके मुख से धर्मदेशना का श्रवण करे।"

और वह सदा आतुर है कि कब सयम को धारण करे ? उस प्रकार की भूख—प्रियमित्र चक्रवर्ती के मनमदिर मे दिन प्रतिदिन बढती जा रही है। इसका मुख्य कारण बाइसवें भवमें की हुइ

भावचरित्र की आराधना है। जिस आत्माको भाव चरित्र की आराधना का आनन्द अनुभव हो चुका हो उस आत्मा को चक्रवर्तीपन अथवा, देव–देवेन्द्र के पौद्गलिक सुखो मे आनन्द कहा से प्राप्त होगा ?

पोट्टिलाचार्य से प्रियमित्र का चरित्र ग्रहण

प्रियमित्र चक्रवर्ती का चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य था। ससार तथा ससार के राग रग मे अनासक्ति होते हुए भी भवितव्यता के कारण अथवा भोगावली कर्मोदय के कारण यह चक्रवर्ती त्र्यासी लाख पूर्व से भी अधिक काल तक गृहस्थाश्रम मे रहा। इस में भी भोग सुख में अलिप्त रहने के कारण ससार में परिभ्रमण करवाने वाले मोहनीय कर्म के स्थितिबंध और रसबध की भी अल्पता ही रही। एक करोड वर्ष की जब आयु शेष रही तो उस अवसर में मूकानगरी के उद्यान मे ज्ञान–ध्यान–तप सयम परायण आचार्यश्री पोट्टिलाचार्य भगवान विशाल साधु परिवार के साथ पधारे। आचार्य भगवन्त के आने का समाचार जानकर–राज्य के मन्त्रियो, सामतो और प्रजाजनो को साथ लेकर जन समुदाय के साथ प्रियमित्र चक्रवर्ती आचार्य की सेवा मे दर्शनार्थ, वन्दनार्थ पहुचा। तीन प्रदक्षिणा कर–वन्दन करके चक्रवर्ती आदि सभी उचित स्थानो पर बैठ गए।

आचार्य भगवान ने पुष्करावर्त मेघ की धारा के समान–वैराग्य से भरपूर धर्मदेशना देना प्रारम्भ किया। चक्रवर्ती की आत्मा में ससार के प्रति घृणा और सयम के लिये अभिरुचि तो पहले से ही थी। आचार्य भगवान की धर्म देशना सुन कर उस में नया–प्राण, नया जीवन–स्फूर्ति भर गई और उस देशना के अन्त मे प्रियमित्र चक्रवर्ती ने आचार्य भगवान से सयम ग्रहण करने की भावना प्रकट कर दी।

आचार्य भगवन की अनुमति मिलते ही उसके हृदय मे अनन्त आनन्द भर गया । मूका नगरी मे जा कर, सर्व प्रजाजनो के समक्ष राज्य का भार पुत्र को सौप कर और वापस आचार्य भगवान के पास आकर प्रियमित्र चक्रवर्ती ने चरित्र ग्रहण कर लिया ।

आयुष्य कर्म के सिवाय वाकी सव शुभा—शुभ कर्मों स्थितिवध अशुभ होता है .

चरित्र ग्रहण करने के वाद गुरुदेव की छत्रछाया मे रहकर—एक तरफ तो शास्त्रो का अभ्यास और उसका परिशीलन, और दूसरी और तप सयम की सुन्दर आरावना के कारण मोहनीय कर्म को—छाट दिया, (लघुता कर डाली) और साथ ही साथ पुण्यानुवधी पुण्य का उपार्जन किया ।

कोई भी आत्मा सम्यग् दर्शन के गुण के सम्मुख हो और उसके उपरान्त सम्यग् दर्शन देशविरति सर्वविरति आदि आत्मिक गुणो में जैसे जैसे आगे वढती जाती है—वैसे वैसे उस आत्मा के मोहनीय कर्मका वध उदय, उदीरणा तथा सत्ता अथवा प्रकृतिवध, स्थितिवध—रसवध—और प्रदेशवध की अपेक्षा से उत्तरोत्तर लघुता होती जाती है ।

एक मोहनीय कर्म की लघुता हो तो ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय उन तीन घातिक कर्मो की भी लघुता हो जाती है । साथ में—चार अघाती कर्मो में भी शुभ अशुभ दोनो प्रकार की उत्तर प्रकृतियो के द्वारा अधिकतर शुभ का ही वध होता है । शुभ प्रकृतियो का वध जव चालू रहता है उसमें रस की तीव्रता होती जाती है । और स्थितिवधमे लघुता आती जाती है । उस का कारण यह है कि आयुष्य कर्म के सिवाय शुभ—अशुभ

सभी कर्मों का स्थितिबंध तो एकान्त में अशुभ ही कहाना है। स्थितिबंध शुभ कर्म का हो या अशुभ कर्म का परन्तु यह स्थितिबंध जबतक सम्पूर्ण पने से न भोगा जाय तब तक आत्मा को संसार के बंधन में अवश्य रहना पडता है। और मुमुक्ष आत्मा के लिये यह बात ठीक नही।

कषाय की मंदता का असाधारण कारण—सम्यग् ज्ञान पूर्वक तप संयम की आराधना।

जैसे जैसे कषाय की तीव्रता—वैसे ही शुभकर्म का भी स्थितिबंध अधिक, और ज्यो ज्यो कषायकी मंदता उतने ही शुभकर्मो का स्थितिबंध कम होता है। शातावेदनीय यह शुभकर्म होता है। उस सातावेदनीय का उत्कृष्ट स्थितिबंध पन्द्रह कोटाकोटि सागरोपम होता है। और कमसे कम स्थिति—बारह मुहूर्त की होती है।

आत्मा जब मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में होती है और तत्प्रायोग्य कषायकी तीव्रता हो तो उस सातावेदनीयका स्थितिबंध पन्द्रह कोटाकोटी सागरोपम प्रमाणबंध होता है। इस आत्माको सम्यग् दर्शन प्राप्त हो इस के लिये अमुक प्रमाण में कषाय में मंदता होने के कारण एक कोटाकोटी सागरोपम से भी कम स्थितिबंध होता है और यही आत्मा क्षपक श्रेणी के उपर आरोह करते हुए दशमें सूक्ष्म संपराय "गुण स्थानक मे पहुचे। अत शातावेदनीय शुभ प्रकृतिका केवल बारह मुहूर्त जितना ही स्थितिबंध होता है। शुभाशुभ कर्मका स्थिति बंध जितना अधिक होता है उतना ही संसार का प्रमाण अधिक होता है, उस मे शुभाशुभ कर्मका स्थितिबंध का प्रमाण कषाय की वास्तविक मंदता के कारण जितना कम उतना संसार का परिभ्रमण भी कम और मोक्ष का समीप भी शीघ्र होता है। यह जैन धर्म का सनातन सिद्धान्त है।

इस कषाय की मदता का असाधारण कारण सम्यग् ज्ञान पूर्वक किया हुआ तप सयम की आराधना होती है ।

एक कोटि वर्षका चरित्र—पर्यायमें "प्रमत"—"अप्रमत" गुणस्थानक काल .

प्रियमित्र अभितक पौद्गलिक सुखका स्वामी तथा चक्रवर्ती था। चरित्र ग्रहण करने के बाद सम्यग् दर्शन ज्ञान द्वारा तप सयम की आराधना के कारण निरतर कषायकी मदता होने के कारण और उत्तरोत्तर वृद्धिवाली स्वरूप रमणता प्राप्त होनेके कारण अब वह प्रियमित्र मुनिश्रेष्ठ आत्माका स्वामी अथवा सम्राट हो गया । परन्तु अभी तक उसमे उस भवके यथायोग्य चारित्र के लिये पुरुषार्थ प्रगट हो वैसा वीर्योल्लास पैदा नही हुआ था।

एक करोड वर्षके चरित्र पर्यायमे "प्रमत" "अप्रमत" (छठ्ठा-सातवा) गुण स्थानक मे गमनागम चालू है तथा उसमे भी "प्रमत्त गुणस्थानक" का काल अधिक है जब कि एक करोड वर्षके चरित्र पर्याय मे इस प्रियमित्र राजर्षि को बार बार प्राप्त होते अप्रमत गुणस्थानको का अधिक काल तक भोग करते हुए प्रमाण एक अन्तर्मुहूर्त जितना होता हे ।

चौवीसवें भवमें शुक्र नामक देवलोकमें अवतार

इस परिस्थिति मे प्रमत्त गुण स्थानक के होते हुए प्रियमित्र मुनिवर देवगति के आयुष्यबध को प्राप्त करते है और (एकदर चोरासी लाख पूर्वका आयुष्य बध पूर्णकर वैमानिक निकाय में शुक्रनामक सातवे देवलोक में सर्वार्थ नाम के विमान मे प्रियमित्र मुनि की आत्मा ऋद्धिदेव के तौर पर चौवीसवे भवमें उत्पन्न हुए ।

१६

देवलोक और महर्द्धिकदेव

प्रियमित्र--चक्रवर्ती के भवमें से श्रमण भगवान महावीर की आत्मा चोवीसमें भवमें वैमानिक निकाय के वारह देवलोको मे से सातवे शुक्र नामके देवलोकमें महर्द्धिक देवके रूपमें उत्पन्न होती है । मनुष्योमे मनुष्यत्व समान होते हुए भी सभी मनुष्य एक जैसे नही होते । आयुष्य, सुख, दु ख, वृद्धिवल, और आध्यात्मिक विकास आदि अनेक प्रकार से मनुष्य—मनुष्य मे भी अतर होता है । इसी प्रकार से देवलोक मे रहते चारो प्रकार के निकाय के देवो मे देवत्व समान होते हुए भी आयुष्य—वुद्धिवल ऋद्धि सिद्धि तथा आध्यात्मिक विकास की अपेक्षा से कइ प्रकार की तरतमता होती है ।

देवलोक में सबसे उत्तम देव

देवलोक मे भुवनपति, व्यतर ज्योतिपि, और वैमानिक इस प्रकार से चार विमान माने जाते है । प्रत्येक विमान को इन्द्र सामानिक तथा प्रकीर्णक आदि अन्य विमान है । ईस विमानो मे भी पुण्य प्रकृतिवाले (तरतमता के कारण अनेकानेक दूसरी श्रेणिया है । भुवनपति आदि चार भागो मे मुख्य स्थान वैमानिक देवो का होता है । तथा वैमानिक देवो में भी उच्चतर स्थान पाच अनुत्तर में सर्वार्थ सिद्ध विमानवासी देवोका होता है ।

इन सर्वोत्तम देवो का सक्षिप्त वर्णन

ये सभी सर्वार्थ सिद्ध विमान वासी देव नियम से एकावतारी होते है । पिछले मानव जीवन में द्रव्य भाव से सयम की सुन्दर

आराधना करनेवाली आत्मा ही ईस सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्पन्न होती है। इस विमान में उत्पन्न सभी देवो की आयु तेत्रीस सागरोपम की होती है। ईन देवो मे जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट एसे आयुष्य के विभाग नही है। पूर्व जन्म मे किये हुए तप-सयम की उत्कृष्ट आराधना के प्रभाव से ईन देवोकी आहार सज्ञा का प्रमाण ईतना अल्प होता है कि तेत्रीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर एक वार आहार की अभिलाषा होती है।

पूर्वजन्म में सयम धर्म की आराधना के प्रसग मे निश्कलक त्रिकोटि शुद्ध ब्रह्मचर्य को परिपालन के प्रभाव से वासना की अत्यन्त मदता के कारण तेत्रीस सागरोपम के बीच प्राय सर्वथा निर्विकारी भाव मे ही ये देवता रहते है। बाह्य अथवा भौतिक सुखकी सर्वोत्तम सीमा का स्थान प्राप्त होते हुए भी ईस सामग्री में सदा अलिप्त रहने वाले ये देव एकावतारी होते है। इस में आश्चर्य की कोइ वार्त नही है। तेत्रीस पक्ष में एकवार श्वासोश्वास की प्रवृति के कारण सम्पूर्ण शरीर आरोग्य का प्रतिक होता है। और शरीर केवल एक हाथ का ही होता है। आयुष्य का अधिकाश भाग आत्म चितन और विश्व की स्वरुपता का विचार करते हुए व्यतित होता है।

यदि कभी—अत्यन्त गूढ अतिन्द्रिय भावो के कारण कोइ शका उत्पन्न होती है तो उसे मनही मनमे मथन कर तीर्थकर भगवन्तो से शका निवारण करने के हेतु अपने स्थान से भाव वदन करने के लिये आते है और वधन के साथ ही प्रश्न करते है और समाधान प्राप्त करते है।

नव ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान वासी देव कल्पातित होने के कारण तीर्थकर भगवान से कल्याणक आदि मे अपना दूसरे किसी प्रसग के कारण इन देवों को भूमितल अथवा मनुष्य लोक मे किसी

प्रकार आगमन प्राप्त नही होता। तीर्थंकर भगवान जिनेश्वर देव के कल्याणक आदि प्रसगो पर ये देव अपने अपने स्थान पर ही स्थित रह कर भाव प्राप्ति द्वारा कल्याणको की आराधना करने का इन का आचार होता है।

देवलोक तथा नरक लोक की स्थिति में शंका का समाधान

आज के वर्तमान युगमे कितने ही महानुभाव देवलोक व नरकलोक के स्थानो के बारे मे शका करते है। उनका कथन है कि "मुबई जैसे शहरमे मरीन लाईन्स अथवा मलबार हिल के स्थान एक स्वर्गलोक के समान है और आजुबाजु के गटरोका दुर्गन्धमय वातावरण से भरपुर चालिया, झोपडे और बादरा की खाडी के पासके झोपड पट्टी में रहने वाले नरक गतिके जीव है। ऐसा कई महानुभावोका अपना दर्शनशास्त्र है"। यह विचार ठीक नही है।

विश्व मे कोई स्थान ऐसा भी अवश्य होना चाहिये जहाँ भौतिक सुखो के साधनो में किसी भी प्रकारकी अपूर्णता न हो। मानव जीवन कितना भी बाह्य सुखो या भौतिक सुखो से भरपूर क्यो न हो इतना सब होते हुए भी गर्भावास मे रहने का दुख, जन्म प्रसग का कष्ट, वृद्धावस्था की यातनाए और रोग आदि प्रसग मानव जीवन के साथ थोडे-बहुत प्रमाण में अवश्य ही बने रहते हैं।

देव-देवियो की उत्पत्ति गर्भावास से नही होती, इन देवोको जीवन पर्यन्त रोग आदि नही होते तथा वृद्धावस्था की पीडाए भी इन देवी देवताओ के जीवन में नही होती। देवोके "लोमाहारी" होने के कारण मानव जीवन की तरह खान पीन आदि के कष्ट नही होते।

पूर्व जन्म मे सचित किये गए पुण्यबल के प्रभाव से स्वर्गलोक में भौतिक सुख के साधन यथोचित प्रमाण में हर हमेश तैयार मिलते

है । इन भौतिक सुखो के साधन तैयार होते हुए भी असंतोषके कारण यदि मानसिक दुःख कभी खडा भी हो जाय तो यह एक अलग वार्ता है परन्तु शरीर मे दर्दजन्य कष्ट उठने का संजोग नही होता अथवा क्षुधा भूख प्यासकी वेदना का उठना तो स्वर्ग लोक में लवलेश प्रमाण में भी नही होता ।

इसके ठीक विपरीत मानवजीवन अथवा पशुजीवन मे—कोई भी एसा स्थान तो होना ही चाहिये जहां किये हुए पुण्य की प्रवृत्तियो के फल स्वरूप सुख—तथा शान्ति प्राप्त हो । एसे ही स्थान को स्वर्गलोग कहते है ।

तथा किये हुए पापो का दंडमय स्थान ही नरक लोग कहलाता है । तो फिर वह स्थान है कहा ?

इस लिये स्वर्ग अथवा नरक लोक के अस्तित्व को मानना ही पडता है और इस के सिवाय वुद्धिमान महानुभावो का काम चलही नही सकता ।

स्वर्गलोग में कौन उत्पन्न होता है ?

धर्म वुद्धि से सुकृत को करने वाला आत्मा को जव तक मुक्ति योग्य पुरुषार्थ नही प्राप्त होता तव तक वीच के (मध्यम रूपमे) स्वर्गलोग अवश्य प्राप्त होता है । परन्तु वाह्य सुख की अभिलाषा से सुकृत की प्रवृत्ति करनेवाला अथवा अपने आप स्वाभाविक रूप से अधिक होते पाप मे से वचते रहने के कारण, अधिक मात्रा मे कष्ट सहने के कारण तथा मन वचन काया द्वारा शुभ व्यापार के कारण से भी कोई कोई आत्मा ऐसा पुण्यवल अर्जन करती है कि जिस के परिणाम स्वरूप उसे स्वर्गलोग की प्राप्ति होती है ।

संयम के द्वारा मोक्ष होते हुए भी, फिर आत्मा स्वर्गलोग में ही क्यो जाती है ?

श्रमण भगवान महावीर की आत्मा ने प्रियमित्र चक्रवेर्ती के (तेइसवे) भवमें ६ खडका विपुल एश्वर्य प्राप्त कर उसे परित्माग कर आत्म कल्याण की सावेना द्वारा मोक्षकी प्राप्ति के लिये संयम ग्रहण किया और ज्ञान-घ्यान-तप आदि के द्वारा मोक्ष सावक योगो मे आत्मा को हजारो वर्ष तक लीन कर दिया, परन्तु इतना सव होने पर भी मोहनीय कर्म की प्रवलता के कारण आत्मा को उस भव में वीतराग भाव प्राप्त न हुआ ।

कोई भी आत्मा गोक्ष प्राप्ति के हेतु सयम ग्रहण करे और उसी भव मे वह मोक्ष प्राप्ति करे ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं । मोहनीय कर्म की अति लघुता हो और सयम ग्रहण करे, अथवा मोह की मर्यादित ही फिर भी सयम ग्रहण करने के बाद अनुकूल पुरुषार्थ का जोर अविक प्रमाण मे हो तो वही आत्मा मुक्ति की अधिकारीणी तो हो जाती है परन्तु सयम ग्रहण करने के स्वरुप मोह का सर्वथा अभाव हो एसा पुरुषार्थ प्रगट न हो तो वह मोक्ष के अत्यधिक निकट आकर भी उस आत्मा को मोक्ष प्राप्ति से पूर्व एक दो यहाँ तक सात आठ भव तक स्वर्ग लोग अथवा मनुष्य लोग मे और जन्म लेना ही पडता है ।

अपने प्रियमित्र राजर्षि के लिये भी यही परिस्थिति थी । उनका प्रयाण मोक्ष की ओर अग्रसरता प्राप्त कर चुका था परन्तु पूर्व अर्जित कर्मकी विषमता होने के कारण उस का मार्ग लम्बा और उस प्रमाण मे प्रवल पुरुषार्थ का अभाव था इसी कारण से इतने लम्बे समय तक तप सयम की आरावना होते हुए भी सराग सयम की अवस्था में ही आयुष्यवघ के कारण और इसी अवस्था

मे वर्तमान आयुष्य की समाप्ति होने के कारण भगवान महावीर की आत्मा चौवीसवें भव में वैमानिक निकाय के बारह देव लोक में से सातवें शुक्र देवलोक में महर्द्धिक देव रूप में उत्पन्न होती है।

देवता–देवलोक में कैसे उत्पन्न होते है ?

देवलोक मे देवो के उत्पन्न होने के लिये प्रत्येक विमान में "उपपात" शैय्या होती है। यह "उपपात शैय्या फूलो से भरी सुगंधिपूर्ण सुकोमल पुष्पो से भी कोमल शैय्या होती है। इस उपपात शैय्या पर एक देवदूष्य वस्त्र होता है इस देवदूष्य वस्त्र और शैय्या के वीच के भाग में देव अथवा देवी का जन्म होता है।

मनुष्य या तिर्यंच के गर्भाशय में जीव को वृद्धि पाने में अमुक समय लगता है, परन्तु देवी देवताओ के शरीर को वृद्धि पाने में समय नही लगता। इस उपपात शैयया पर जन्म प्राप्त करने वाली आत्मा को उत्पति कें प्रथम समय से ही वैक्रिय शरीर योग्य आहार के पुद्‌गलो के ग्रहण करने से और अन्तमुहूर्त के बीच देवलोक के योग्य प्रमाण का शरीर तथा चाहिये जैसा अतिशय सुन्दर शरीर तैयार हो जाता है। जिस प्रकार निद्रा मे सोया हुआ मनुष्य आलस्य छोडकर तुरन्त उठ वैठता है उसी प्रकार से तैयार होने के वाद यह देव भी देवदूष्य वस्त्र को दूर कर उपपात शैय्या पर उठ वैठता है। और तुरत ही स्वर्गीय सुखका का उपभोग शुरू कर देता है।

देवलोक में उत्पन्न देवो में मति-श्रुत तथा अवधिज्ञान

देवलोक में उत्पन्न किसी भी देव को उत्पति के काल से ही मतिज्ञान-श्रुतज्ञान के साथ साथ उस देवलोक के प्रमाण से अवधिज्ञान भी प्राप्त होता है। वह देव यदि सम्यग् दृष्टि होता है तो उस

अवधिज्ञान को अवधिज्ञान रूप माना जाता है और वह देव इस ज्ञान के प्रभाव से जिनेश्वर देव के कल्याणक आदि प्रसग मे भक्ति द्वारा सदुपयोग करता है। परन्तु यदि देव मिथ्या दृष्टि होता तो इस देव का अवधिज्ञान तो होता ही है पर वह ज्ञान इस देव में विभग ज्ञान के नाम से सबोधित होता है और स्वर्गीय सुखो के रग-राग में उस ज्ञान के उपयोग द्वारा यह आत्मा विशिष्ट कर्मबर्व की अधिकारिणी बन जाती है।

भगवन्त की आत्मा में तीन ज्ञान की विशेषता

भगवान महावीर की आत्माने शुक्र देवलोक मे जन्म लिया है। भगवान की आत्मा सम्यग् द्रष्टि है इतना ही नही अपितु इस देव लोक में रहते अन्य देव-देवियो की अपेक्षा मति-श्रुत-अवधिज्ञान की मात्रा भी उच्चकोटि की तथा निर्मल है। जो आत्मा पूर्वभव मे रत्नत्रयी की आराधना करके सयम मे स्थित सराग भाव के कारण देवगति, देवायुष्य का बध कर स्वर्गलोक में उत्पन्न होती है, ऐसी आत्मा मे मोह की अल्पता के कारण मति-श्रुत-अवधिज्ञान भी निर्मलता वाला होता है।

देवलोक में रहते-सम्यग् दृष्टि देवताओ का अतरग जीवन

देवलोक मे रहते देवता, देवो के भव में अविरति के उदयवाले होते है। ऊपर कहे अनुसार सर्वार्थ सिद्ध विमानवासी देवो में तेत्तीस हजार वर्ष गुजर जाने के बाद आहार की अभिलाशा होती है और "लोम" आहार ग्रहण करते है। इतना होते हुए इन मे नवकारसी पोरसी अथवा एक उपवास आदि तपश्चर्या और अन्य व्रत पच्चक्खान (जिस प्रकार से मनुष्य जीवन मे मुमुक्ष आत्माए करती है) इन देवो को देशसे या सर्वसे विरति की आराधना का अभाव होता है। परन्तु सम्यग् ज्ञान सम्यग् दर्शन की निर्मलता होने के कारण विरति की और बहुमान और अभिरुचि बहुत उच्चकोटि की होती है।

इन्द्रादि सम्यग् दृष्टि देव जब अपने सिंहासन पर विराजमान होते है तो उस समय विरति को प्रणाम कर ही इन्द्र सभा में बैठता है। और उस के मुखसे निकलता है "मेरे प्यारे ऐन्व्रत मा दीवो"। इस कथन के अनुसार मनुष्य लोक मे रहते हुए ब्रह्मचर्य आदि विरतिवत आत्माओं को नमस्कार करके ही इन्द्र सिंहासन पर बैठता है। अब भोगोपभोग की सर्वांग सुन्दर सामग्री होते हुए भी इस सामग्री के प्रति देवताओं मे आनन्द के स्थान पर उदासीनता ही होती है। इस के परिणाम स्वरुप मोहनीय कर्म का स्थितिबध तथा रसबध की, और इस के पीछे अन्य कर्मो के स्थितिबधादिककी तीव्रता होने का प्रसग नही आता। इस कारण से देव लोक का आयुष्य पूर्ण करने के बाद ऐसे सम्यग् द्रष्टि देव की आत्मा जहा वीतराग के शासन के अनुकूल हो ऐसे द्रव्य-क्षेत्र-काल तथा भाव के भवान्तर मे चली जाती है अर्थात उत्पन्न होती है।

अपने श्रमण भगवान महावीर की आत्मा की भी यही स्थिति है। और शुक्र नामक देवलोक में सत्तर सागरोपम का आयुष्य पूर्ण कर पच्चीसवें भव मे जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में छत्रा नाम की नगरी में जितशत्रु राजा की भद्रा नाम की रानी की कोख में गर्भपने में अवतरित होती है। गर्भकाल पूर्ण होने पर योग्य समय आनेपर सर्वलक्षण सपन्न पुत्र रत्न का जन्म हुआ। माता पिताने पुत्र का नाम नन्दनकुमार रखा। दूज के चाद के अनुसार पुत्र रत्न क्रमश वृद्धि को पाने लगा और योग्य समय से धर्मकला तथा दूसरी प्रकार की कलाओ का नन्दकुमार को शिक्षण दिया गया।

आराधना की सफलता

जिस आदमी ने अपने वर्तमान काल में (जीवन मे) देव–गुरु–धर्मकी आराधना की है और उस के फल स्वरुप दर्शन मोह–चरित्र मोह अथवा दोनो की मदता के साथ ज्ञानावरन आदि अन्य

कर्मों की लघुता कर ली है वह आत्मा आयुष्य पूर्ण करने के बाद सद्गति मे ही उत्पन्न होती है और जहा भी उत्पन्न होती है वहा अधिक तर इस आत्मा को पुन विशिष्ठ आराधना के सजोग फिर मिल ही जाते है।

वर्तमान काल मे देव–गुरु–धर्मका सजोग प्राप्त होने से पूर्व ही यदि दुर्गति का आयुष्य बंध हो भी गया हो—आयुष्य के बंध काल के उपरान्त, वर्तमान जीवन मे की हुई आराधना निष्फल नही होती। नरक जैसी दुर्गति का आयुष्य बंध हो गया हो और बाद मे आत्मा आराधना में जुडी होने से दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम–क्षयोपशम के कारण सम्यग्दर्शन वर्तमान जीवन में प्राप्त हो जाय तो भी आगामी भव के लिये नरक गति का जो आयुष्य बंध हुआ है वह आयुष्य पूर्ण होने के अन्तमुहूर्त जब बाकी रहता है तब यह आत्मा (यदिक्षायिक सम्यग् दष्टि न हो और क्षयोपशम सम्यग् दर्शन हो तो) सम्यग् दर्शन को वमन कर मिथ्या दर्शन प्राप्त करती है। अर्थात चतुर्थ गुणस्थानक से फिसल कर प्रथम गुण स्थानक में आती है (यदि क्षायिक समकित हो तो समकित कायम रहे परन्तु अशुभ लेश्या को प्राप्त करे) इस के बाद ही वह आत्मा नरक गति को प्राप्त करती है।

इतना होते हुए भी वर्तमान भव में देव–गुरु–धर्म की आराधना करने से मोहनीय कर्म की जो लघुता हुई है उस के कारण से नरक गति में उत्पन्न होने के बाद अन्तमुहूर्त के बाद अथवा योग्य समय में यह आत्मा नारकी के भव में भी फिर सम्यग् दर्शन को प्राप्त करती है और इस सम्यग् दर्शन के सहयोग से नरक गति के योग्य जो आराधना शक्य होती है वैसी आराधना का वही आत्मा लाभ उठाती है।

आराधना की सफलता नरक में किस प्रकार ?

यहा सहज रुपमे यह प्रश्न उठता है कि नरक गति में देव नही गुरु नही तथा सामयिक आदि ६ आवश्यक कर्म भी नही तो वहा सम्यग् दर्शन होते हुए भी आराधना का लाभ किस प्रकार से प्राप्त होता है ?

इस प्रश्न के समाधान में एसा समजना चाहिये कि भले ही नरक गति मे देव–गुरु–धर्म अथवा ६ आवश्यकमय धर्म नही है परन्तु देव–गुरु–धर्म और ६ आवश्यकमय साधनो की हाजरी मे आराधना का वास्तविक स्थान अपनी आत्मा मे ही तो है।

देव–गुरु–धर्म तथा ६ आवश्यक साधनो की हाजरी तो हो, और आत्मा आराधक होने के साथ आराधना मे विशिष्ठ वीर्योल्लास प्रकट करे तो मानवजीवन में जिस प्रकार सकल कर्म का क्षय होकर निर्वाण पद को प्राप्त करती है। उसी प्रकार नरक गति मे निर्वाणपद की शक्यता योग्य आराधना तो नही है। यह बात बिलकुल उचित है परन्तु नरक में आराधना है ही नही यह कहना उचित नही है।

नारकी जीवो की भयकर वेदना के भोग में भी समभाव यह भी तो आराधना ही है

आराधना का बाह्य प्रकार बेशक अनेक है। परन्तु अतर–दृष्टि से यदि आराधना पर विचार किया जाय तो "दर्शन मोह" "चारित्र मोह" का तीव्र बध नही होता। इस के साथ दूसरे ज्ञानावरणादि कर्मो की दीर्घ स्थिति का बध नही हो इस के लिये आत्मा में स्थित उपयोग की जागृति यह वास्तविक अतरग साधना कहलाती है। जीवन में रौद्र ध्यान से बचना तो शक्य है परन्तु आर्तध्यान से

वचना अत्यन्त कठिन है। वाह्य दृष्टि से जरा अनुकूल योग मिलते ही हमे प्रसन्नता होती है और यदि थोडा प्रतिकूल सजोग हुआ तो आत्मा नाराज हो जाती है यही खुशी और नाराजगी का जो वातावरण होता है यही एक प्रकार का आर्त ध्यान है।

कर्म को "औदयिक" भावो की अनुकूलता–प्रतिकूलता के प्रसग मे—हर्ष—शोक के कारण आर्तध्यान चालू रहता है और इसी आर्त ध्यान के मूल कारण के आधार पर यह ससार चलता रहता है।

भले ही आत्मा नरक गति में हो और वही अनेक प्रकार मे त्रिविध यातनाए भोग रही हो, परन्तु ईतना कष्ट होने पर भी वह आत्मा—हाय–हाय तथा दूसरा हाहाकार नही करती परन्तु ये आत्माए अपने अन्तराल को समजाती है–"चेतन मनुष्य अथवा तिर्यच के भव में क्षणिक वाह्य सुखके लिये अज्ञान दशा में की गई-हिसा-असत्य-आदि उग्र पापो के फल स्वरुप प्राप्त हुइ उस वेदना को तो सहना ही होगा, चिल्लाने-हाहाकार करने से ये वेदनाए रुकने वाली तो है नही-इन्हे तो भोगना ही है। फिर और अधिक नए अशुभ कर्म क्यो बाँधने" ?

ईस भावना से सहनशीलता रखने से उदय में आए हुए अशुभ कर्मो की निर्जरा होती है और नए अशुभ कर्मो के वधन से वच जाता है। इस प्रकार अत्यन्त वेदना के प्रसग मे भी समभाव होने के कारण इस नारकी अन्तर आत्मा में सम्यग् दर्शन का प्रकाश होता है। और यही सम्यक् भाव (समभाव) इन समकितवत आत्माओ की वडी आरावना कहलाती है। इसी आरावना के फल स्वरुप प्रथम द्वितीय तृतीय अथवा चतुर्थ नाम से "च्यवकर" मनुष्य भव प्राप्त हुइ आत्मा को उसी भवमे सर्व कर्म क्षय कर निर्वाण पद प्राप्त हो जाता है।

एक भी वार आराधक भाव पैदा होने से संसार परिमित हो जाता है :

जीवन में विराधक भावना साधन तो प्रत्येक भव में प्राप्त होते ही हैं। परन्तु आराधक भावना साधन मिलना अत्यन्त कठिन होते है। आराधक भावके साधन मिलने के वाद आराधना मे जुड जाना यह इस से भी कठिन है। आराधना में जुड जाने के वाद सम्यग् दर्शन आदि भाव का पेदा होना यह तो अत्यन्त ही दुष्कर होता है। एक वार यदि यह आराधक भाव उत्पन्न हो जाय तो इस आत्मा को संसार अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से भी थोडा वन जाता है और आराधक भाव का प्रवाह अथवा परंपरा चलने लगे तो आत्मा को निर्वाण पद की जल्दी प्राप्ति हो जाती है।

वाईसवें भव से आराधक भाव की परंपरा

अपना नंदकुमार भी वाईसवे विमल राजा के भव से आराधक भव की परंपरा वाले थे। तेईसवे भवमें प्रियमित्र चक्रवर्ती वने। ६ खंडका ऐश्वर्य प्राप्त किया, इतना होते हुए अवसर आने पर ६ खंडका ऐश्वर्य छोड कर महात्यागी मुनिवर वने और आराधक भावो का विशिष्ठ प्रवाह चालू रहा। चोवीसवे भव में शुक्र नाम के सातवें देवलोक में सतर सागरोपमका आयुष्य वाला महर्द्धिक देव वना। फिर भी शुभ कर्म के औदयिक भावो में अनासक्त रह कर आराधक भाव से स्थिरता रखी। अव पच्चीसवे भव में नन्दन कुमार के भव मे यह आराधक भाव उच्च कक्षा में पहूंच गया यह वात खास ध्यान मे लेनी चाहिये।

उच्च कुल का वास्तविक भावार्थ

जिस के यहां नन्दकुमार का जन्म हुआ वे राजा रानी दोनो ही आराधक आत्माए थी। कर्म ग्रन्थादि शास्त्रो में क्षत्रिय आदि कुलो की उच्चता मानी जाती थी और ऐसे उच्च कुल की प्राप्ति

पूर्वजन्म मे संचित किये हुए उच्च गोत्र कर्म के प्रभाव के कारण थी। परन्तु यह सब तो व्यवहार नय की अपेक्षा से है।

निश्चय नय की अपेक्षा से तो ऐसे क्षत्रिय आदि उच्च गिने जाने वाले कुल मे जन्म होने के बाद माता-पिता आदि स्वजन वर्ग यदि धर्म परायण हो और उन के द्वारा जन्म प्राप्त किये हुए बालक को गर्भावस्था से ही आराधना के संस्कार अच्छी तरह से मिलते रहे तो ही वह उच्च कुल-अथवा गोत्र कहलाता है। क्षत्रियकुल जैसे उच्च कहलाने वाले कुल मे जन्म लेने के बाद जीवो को अभयदान देना-असहाय पशुओ का रक्षण-संरक्षण आदि करने के स्थान पर निरपराध प्राणियो का शिकार आदि करने का वातावरण हो तो सामान्य रूप मे उच्च कुल नही कहलाता। जिस कुल में अहिंसा सत्य-अचौर्य-शील-संतोष और क्षमादि गुणो का वातावरण हो वही कुल सच्चे रुपमें उच्च कुल गिना जाता है।

नन्दकुमार को मातापिताका गद्दी समर्पण और दीक्षा

नन्दन कुमार के माता पिता भद्रारानी तथा जितशत्रु दोनो के पास अनेक देशोका राज्य था, फीर भी दोनो के दिल में अहिंसा आदि मगल मय धर्म का वातावरण विद्यमान था। ईसी लिये जैसे ही नन्दन कुमार योग्य आयुको प्राप्त हुआ, राज्य भार उस के कधो पर डाल कर-राज्य सौंप कर राजा जितशत्रु ने आत्म कल्याण के हेतु-राजाने योग्य गुरूदेव के पास जाकर संयम व्रत ग्रहण कर लिया। नन्दनकुमार अब राजा हो गया।

इतना होते हुए भी नन्दन कुमार ने राज्य का कारभार चलाने के लिये न्याय नीति-धर्म नीति दोनो का सहारा लिया।

"मेरे राज्य में समस्त प्रजा मे--कोई भी जीवको जरा भी दुःख होता था तो राजा उस के दुःख को अपना दुःख मानता था। और इस प्रकार से प्रजाजनो के दुःख निवारण के लिये राजा सदा उद्यत

मजग रहता था । अपने राज्य मे चोरी, डकैती, हत्या, पापाचरण आदि न हो इस के लिये राजाने पूरे प्रयास सदा चालू रखे और सफलता भी प्राप्त की। ईस के बाद गृहस्थ में उचित अर्थ-काम पुरुषार्थ के सेवन मे, पुरुषार्थ मे बाधा न उत्पन्न हो ऐसा वह सदा प्रयत्नशील रहता था।

राजा नन्दन की दीक्षा :

नन्दन राजा की आयु पच्चीस लाख वर्षकी थी । इस में चौवीस लाख वर्ष तक नन्दन राजा गृहस्थाश्रम में रहा। एक लाख वर्ष की जब आयु शेष रह गई तो इस क्षेत्र मे विचरते पोट्टिलाचार्य भगवत के पास नदन राजा ने सयम ग्रहण किया । नन्दन राजाने अपने प्रबल पुण्योदय से मानव जन्म निरोगी शरीर-दीर्घ आयुष्य और राज्य वैभव के कारण भोगोपभोग की सुन्दर सामग्री प्राप्त की थी इतने पर भी इस राजा का पुण्यानुबंधी पुण्य प्रबल होने के कारण भोगोपभोग की प्रवृत्ति मे उसे आनन्द प्राप्त नहीं होता था। इस राजा की अतर्आत्मा में सम्यग् दर्शन का दीपक प्रकाशमान होने के कारण उसने भोगोपभोग की प्रवृतियो को त्याग कर निजगुण की रमणता मे असाधारण कारण स्वरुप सयम ग्रहण करना और ज्ञान ध्यान तथा अपना तेज बढाने के लिये परमात्म दशा को प्राप्त करने की कामना थी। ईसी लिये ईतने विशाल साम्राज्य को त्याग कर सयम ग्रहण करने के लिये नन्दन राजा सयम पथ पर अग्रसर हुआ।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद सयम-तप-और ज्ञानप्रयोग का त्रिवेणी संगम.

चरित्र ग्रहण करना जिस प्रकार कठिन है उसी प्रकार चरित्र ग्रहण करने के बाद तप सयम मे दिन प्रतिदिन वृद्धि करना यह उससे भी अधिक कठिन काम है। नन्दन राजा अब नदन राजर्षि बना। जिस दिन उसने गुरुके सामने सयम ग्रहण किया,

उसी दिन उसने अभिग्रह धारण किया "आज से जीवन पर्यंत मास खमण के पारणे मास खमण की तपश्या चालू रखूंगा" इस अभिग्रह का जीवन पर्यंत अखड रूप से पालन करने के कारण महान तपस्वी भी बना। इतनी तपस्या के साथ साथ ज्ञानाभ्यास मे भी वह पारगत होने से वह समर्थ ज्ञानी भी हुआ। एक तरफ सयम, दूसरी तरफ उग्र तपस्या, तीसरी ओरसे शास्त्रो का ज्ञान, सुदर अभ्यास इस प्रकार का त्रिवेणी सगम होने से राजर्षि नदन का आत्मा तेज वृद्धि पाने लगा।

भावदया की प्रधानता—और "विंशति" स्थानक की आराधना का प्रारम्भ.

नन्दन राजर्षि अपनी आत्माके कल्याण के लिये—ज्ञान—ध्यान—तप सयम मे त्रिकरण योग से झुक गए परन्तु अपने ही आत्मकल्याण से उन्हें सतोष नही था। इस महर्षि के अतर्आत्मा में विश्वस्थित सभी जीवोका कल्याणमार्ग में निमित्तभूत धर्मतीर्थ की स्थापना के लिये योग्यता विद्यमान थी। और इस योग्यता के परिपक्व होने का समय नजदीक आ गया था।

जन्म—जरा मरण—आधि—व्याधि—उपाधि—रोग—शोक—सताप आदि विविध दुखो से ससार के सब जीवो को घिरा जानकर इस नन्दन राजर्षि के मनमन्दिर में द्रव्य अनुकपा के साथ भाव अनुकपा का प्रवाह अस्खलित पन से प्रारम हो गया।

"मेरे जीवन में चाहे जितनी भी तपस्या करनी पडे अथवा परिसह उपसर्गो की फौज से जूकना पडे उसकी मुजे परवाह नहीं—दिन रात मुझे जागरण करना पडे उस की भी परवाह नही—इन सब कष्टो के भोग स्वरुप यदि विश्व के दूसरे जीवो को विशुद्ध धर्म की आराधना द्वारा-जन्म, जरा, मृत्यु आदि सब दुखो से प्राण

मिल जाय तो ही मेरा जीवन सफल होगा" ऐसी विश्व कल्याण की उत्कृष्ट लोकोत्तर भावदया की परंपरा नन्दन राजर्षि के असंख्य आत्म प्रदेशो मे निरंतर चालू थी। और इस के लिये महर्षिने मासक्षमण के पारणे मास क्षमण का जीवन पर्यन्त जो अभिग्रह धारण किया उसके साथ विंशती स्थानक तप की आराधना का भी मंगलकारी प्रारंभ हुआ।

१७

विंशत स्थानिक का विवेचन-अरिहंत पद

सामान्य तरीके से यदि विचार किया जाय तो तीर्थंकर नाम कर्मका वर्ध का कारण श्री विशति स्थानक तपकी आरावना है। परन्तु विशिष्ट पन से विचार करे तो विशति स्थानक की आरावना के साथ भावदया की प्रवानता यही—तीर्थकर नाम कर्म के वध का मुख्य हेतु है।

विशति स्थानक के वीस पदो में प्रथम श्री अरिहत पद है। अरिहत पद के साथ भावदया का प्रगाढ सम्वन्व है। अथवा भाव दया की पराकाष्टा के कारण ही अरिहत पद की प्राप्ति होती है। अथवा—यू भी कह सकते हैं कि भावदया की प्रधानता यह कारण है और अरिहत पद यह कार्य है। अरिहत पद के सिवाय वाकी के उन्नीस पदो को उत्पत्ति स्थान भी अरिहत पद ही है। इसके वाद के उन्नीस पदो का जिस प्रकार से चिन्तन—मनन करना चाहिये उसी प्रकार से यदि किया जाए तो वे सभी पद भी भावदया की प्रधानता से ही जकडे हुए हैं। यू तो इन वीसो पदो का, अथवा वीस पदो मे से किसी एक, अथवा दो पद की त्रिकरण योग से आरावना करन वाले महानुभाव तीर्थंकर नाम कर्म का "निकाचित" वध कर तीसरे भव मे अरिहत पद प्राप्त करता है। श्रमण भगवान महावीर प्रभुकी आत्माने अपने स्थूल सत्ताईस भवो में से पच्चीसवे नन्दन मुनि के भव मे विंशति स्थानक की जो आराधना की थी—उस के सदर्भ मे वीसो पदो की साथ साथ प्रत्येक पद की आरावना के

साथ जुडी भावदया की प्रधानता का यहा सक्षेप में परामर्श किया जाय तो समयोचित होगा।

विंशति स्थानक में प्रथम अरिहंत पद

"अपायागमातिशय"—"ज्ञानातिशय"—"वचनातिशय" और "पूजातिशय" इन चार मुख्य अतिशय उपरान्त—अशोक वृक्ष आदि अष्टमहाप्रतिहार्य से विभूषित वर्तमान में यदि विचरता कोई तीर्थकर हो—उसे अरिहत कहते है। अरिहत पद के उच्चारण मे तीनो काल का—और पन्द्रह कर्म भूमि के सभी तीर्थकरो का समावेश हो जाता है।

अरिहत भगवान अपनी अतरआत्मा में रहे राग द्वेष आदि अपायो (दोषो) को सयम की साधना द्वारा सर्वथा क्षय करते है। परन्तु अपने इन अपायो के सर्वथा अपगम (विनाश) होने के बाद केवलज्ञान—प्राप्त होने के बाद प्रथम समवसरण के लिये एक ऐसा लोकोत्तर धर्मतीर्थ स्थापन करते है कि जो कोई महानुभाव भव्यात्मा ईस तीर्थ की जिस रीति से शरण स्वीकार करती है, और जिस प्रकार से अभेद पने मे स्वीकार करे तो उस भव्यात्मा का राग द्वेषादि आदि अपाय (दोष) का अपगम (विनाश) अवश्य हो जाता है।

इसी अपेक्षा से "अपायागमातिशय" मे स्थित "अतिशय" पद की सफलता है। इस के उपरान्त अरिहत परमात्मा द्वारा प्रवर्तित—धर्म तीर्थ का अवलबन लेने के बाद अपने आत्म कल्याण की भावना के साथ विश्ववर्ती सब जीवो के आत्म कल्याण की सर्वोत्कृष्ट भावना प्रकट हो तो यह भव्यात्मा तीर्थकर नाम गोत्र का भी बध करती है और भावी काल मे तीर्थकर पद प्राप्त कर लेती है।

विश्व में अरिहत भगवंत जैसा दूसरा कोई परोपकारी नहीं :

इस अखिल विश्व में अरिहत भगवन्त जैसा कोई दूसरा परोपकारी महापुरुष नही। अनत काल से ससार रुपी इस जगल मे—घोर अधकार के कारण से भटकता—भटकता और विविध प्रकार के भयकर दुखो को भोगते भव्य जीवो के आत्ममदिर मे ज्ञान और चरित्र का दिव्य प्रकाश उपजा कर उन्हे अक्षय—अव्यावाध सुख की प्राप्ति करवाने वाला यदि कोइ है तो वह केवल—अरिहत भगवान द्वारा बताया हुआ धर्म तीर्थ ही है।

इस अखिल विश्व मे एक अरिहत भगवान और उन के द्वारा प्रवर्तित धर्मतीर्थ का यदि अभाव हो तो इस विश्व की अथवा विश्ववर्ती जीवो की क्या स्थिति होती उस की कल्पना भी नही की जा सकती।

अरिहत परमात्मा—"महामाहण" कहलाते है। अरिहत भगवान महा निर्यामक है, अरिहत भगवत महागोप है, और ये अरिहत देव प्रभु महान सार्थवाह भी है। कोइ भी अरिहत भगवान—अरिहत परमात्मा की तथा उन के द्वारा बताई गई धर्म तीर्थ की आराधना असाधारण भक्ति के कारण ही अरिहत होते हैं। सिद्ध पद—आचार्य पद—उपाध्याय पद अथवा साधुपद-इन सभी का मूल अरिहत पद है और इस प्रकार अरिहत प्रभु द्वारा प्रवर्तित धर्म तीर्थ के सिवाय दूसरा और कोई नही है।

" धन्य हैं ये अरिहत भगवान जिन्हो ने विश्व के सभी जीवो की शान्ति के लिये ऐसा लोकोत्तर धर्मतीर्थ प्रवर्तन किया, मेरा ऐसा भाग्योदय कब होगा—जब मैं भी सर्वोत्कृष्ट तप सयम की आराधना करने के साथ "सवि जीव करु शासन रसी" इस भावदया का परम मत्र अपने अतरआत्मा के असख्य प्रदेशो मे सतत ध्यान करता हुआ—तीर्थ कर नाम कर्म का बध करने पूर्वक भविष्य मे तीर्थ कर पद प्राप्त

कर धर्म तीर्थ की स्थापना द्वारा जगत के सभी जीवों को ऐकान्तिक अविचल शान्ति की प्राप्ति मे निमित्त बनू"

ऐसी उत्तम भावना यदि सतत पने से विचारने वाली आत्मा ही तीर्थंकर नाम कर्म का बंध करती है।

भगवान महावीर प्रभु की आत्माने पच्चीस वे नन्दन मुनि के भव मे ऐसी ही उत्तमोत्तम भावना के कारण ही तीर्थंकर नाम कर्म का निकाचित बंध किया था।

तीसरे सिद्ध पद की आराधना.

वीश स्थानक के वीस पदो मे से तीसरे पद का नाम सिद्ध पद है। आत्मा को आत्मा के सपूर्ण शुद्ध स्वरुप की प्राप्ति इस का नाम सिद्ध पद है। किसी भी ससारी जीवात्मा में यह सिद्ध पर्याय "तिरोभाव" अवश्य रहता है। क्षायिक भाव से दर्शन ज्ञान चरित्र की आराधना का योग मिलते ही तिरोभाव से रहा यह सिद्ध पर्याय प्रकट हो जाता है। यह पर्याय प्रकट हुआ कि जन्म, जरा, मृत्यु, आधि, व्याधि, उपाधि आदि रोग, शोक, सताप का सर्वथा अभाव हो जाता है। लोक के अग्र भाग मे स्थित ये सिद्ध भगवन्त हर क्षण लोकालोक का त्रैकालिक भावो से जानने योग्य स्व रमणता का अवर्णनीय आनन्द अनुभव करते है।

विश्व का कोइ सुख या आनन्द एसा नही है जिस की इस सिद्धावस्था के आनन्दमे शताशवा भाग की समानता की जा सके।

"मे ऐसे सर्वसिद्ध भगवन्तो को त्रिकरणयोग से वारंवार नमस्कार करता हूँ और मैं अपनी आत्मा को सिद्ध पर्याय की प्राप्ति के साथ विश्व के सब जीवोको भी सिद्धपर्याय की प्राप्ति के लिये तप-सयम आदि की आराधना द्वारा निमित्त बनु," ऐसी सर्वोत्कृष्ट भावना

जिस महानुभाव के मनमंदिरमें प्रतिक्षण चालू रहती है वह आत्मा अवश्य ही तीर्थंकर नाम कर्मका बंधकर नियमित बंध करके-भविष्यमे अरिहंत पदको प्राप्त करती है ।

तीसरे प्रवचन पद की आराधना :

तीसरा "प्रवचन" पद है । धर्मतीर्थ—धर्मशासन अथवा प्रवचन ये सभी पर्याय वाचक शब्द हैं अर्थात् समान अर्थ वाले शब्द हैं । विश्वमें व्याप्त सर्वभावों को, अथवा—अमुक भावो को यथायोग्य वास्तविक तरीके से आत्मा में बोध करने वाले—द्वादशांगीमय सम्यक्—श्रुत और उसी प्रकार से आचरणामय सम्यक् चरित्र इन दोनोका प्रवचन पदमें समावेश है ।

प्रवचन पद से, द्वादशांगी—श्रमण प्रधान चतुर्विध संघ को सुनाई जाती है—उसका पठन किया जाता है और इसके पीछे यही आशय होता है । कारण यह है कि द्वादशांगी रुप सम्यक् श्रुत का आधार—और उसे अमल रूप धारण करने वाला चतुर्विध संघ होता है ।

अरिहंत पदकी कितनी भी भक्ति करने मे आए, अथवा सिद्ध पद की कितनी भी पर्याय प्राप्ति की आराधना की जाय, परन्तु श्रुत-धर्म (द्वादशांगी) और चरित्र धर्म (चरण सितरी—करण सितरी) रूप प्रवचन पद की अथवा धर्म तीर्थंकी जीवन मे जिस प्रकारसे आराधना होनी चाहिये यदि उस तरहसे आराधना न हो तो अरिहंत की भक्ति और सिद्ध पदकी भावना होते हुए भी सिद्ध पद की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि कारण हो तभी तो कार्य सिद्धि होती है । अरिहंत पद की आराधना यह सिद्ध पद की परंपर कारण है । सिद्ध पद का अनंतर कारण तो धर्मतीर्थ की आराधना है । श्रुत धर्म और चरित्र धर्म रूपी प्रवचन पद (धर्मतीर्थ) की आराधना के बिना किसी भी आत्माको सिद्धि पदकी प्राप्ति नही हुई, वर्तमान में भी नहीं होती, भविष्य मे भी नही होगी ।

अतीर्थ सिद्ध तरीके गिनी जाती मरुदेवी माता आदि मुक्ति-गामी आत्माओं को प्रकट रूपने धर्मतीर्थका आलम्बन न होते हुए भी धर्मतीर्थ के आलम्बन से ही आराधना होनी चाहिये, ऐसी आराधना हो—तभी आत्मा मुक्ति पद की अधिकारिणी होती है। अरिहत पद की सफलता सिद्ध पद की प्राप्ति मे ही निहित है, इसी लिये अरिहत के बाद सिद्ध का स्थान आता है। परन्तु सिद्ध पद की प्राप्ति का उपादान (असाधारण) कारण अरिहत द्वारा प्रवर्तित धर्मतीर्थ (प्रवचन पद) ही है। इस कारण से सिद्ध पदके उपरान्त तीसरा स्थान प्रवचन को प्राप्त है। अरिहत के बिना जैसे प्रवचन नहीं होता, उसी प्रकार (प्रकट रूप से या अप्रकट रूपसे) प्रवचन पद की आराधना के बिना सिद्ध पद नहीं मिलता—यह भी निश्चित मानना चाहिये। इस बात को इस प्रकार मानकर विश्वके सर्व जीवोको सिद्धि पदकी प्राप्तिके लिये धर्मतीर्थके प्रवर्तन की सर्वोत्कृष्ट भावनाको धारण करने वाली आत्मा भी तीर्थकर नाम कर्मका अवश्य ही निकाचित बध करती है। और भावी कालमे यह आत्मा तीर्थकर पदको प्राप्त करती है। इस प्रकार सिद्ध पदकी प्राप्तिका असाधारण कारण धर्मतीर्थ ही होता है।

इस धर्मतीर्थकी शरणमे आनेवाली भव्यात्माको, विषय कषायकी अनादिकालीन सताप के कायम के लिये, उपशम प्राप्त होता है। इस तीर्थकी शरणमे आनेवाली भव्यात्माकी अनादि काल से चली आ रही भोग पिपासा पूर्णरूप से निवृत हो जाय और इस तीर्थका यथार्थ शरण लेने वाली भव्यात्मा अपने आत्म स्वरूपको सम्पूर्ण निर्मलता प्राप्त कर लेती है।

अरिहते सरण पवज्जामि, सिद्धे सरण पवज्जामि, साहु सरण पवज्जामि, इन तीन पदोकी अपेक्षा—

केवलि पन्नत धम्मं सरण पवज्जामि इस चौथे पदका महत्व उपर वताए तरीके से वहुत ही वढ जाता है ।

चौथा आचार्य पद

तीसरे प्रवचन पदके वाद आचार्य पदका स्थान आता है । भगवान तीर्थंकर देवकी अनुपस्थितिमे गणधर भगवत आदि तथा आचार्य भगवत जैन शासन के सिरताज माने जाते है ।

तीर्थं कर भगवान ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया । ईन धर्मतीर्यो को लाखो—असख्य वर्षो तक टिकाए रखने वाला—किसी भी काल मे किसी भी क्षेत्रमें कोई भी विशिष्ठ महानुभाव जो होता है जो पचाचार का पालक छत्रीस छत्तीसी से अलंकृत आचार्य भगवान ही होते है । ये आचार्य भगवत यद्यपि अनेक गुण समुदाय से सुशोभित होते हैं । इतना होते हुए शासन के प्रति वफादारी-शासन के तथा धर्मतीर्यके रक्षण के लिये प्राणार्पण करने का जो प्रशंसनीय उत्कठा ये आचार्य भगवत के खास गुण होते है । ऐसे वफादार—और प्राणपणसे भरे हुए कर्मठ आचार्यो के द्वारा अनुगृहीत परपरा के द्वारा ही जिन शासन की-धर्मतीर्थकी स्थापना, अथवा प्रवर्तन ये अति उत्तम साध्य है । धर्मतीर्थ के प्रवर्तक तीर्थंकर भगवान की भक्ति जैसे तीर्थंकर नाम कर्मके वंधका असाधारण कारण है उसी प्रकारसे धर्मतीर्थ का सरक्षण और सरक्षक आचार्य भगवानकी भक्ति यह भी तीर्थ कर नाम कर्मका वधन हेतु असाधारण हेतु है ।

"जगत के सर्व जीवो को अक्षय अव्यावाध सुख प्राप्त करवानेवाला धर्मतीर्थ का सरक्षक ऐसे आचार्य भगवतो की त्रिकरण योगसे भक्ति-करुं जिस से भावी काल में धर्मतीर्थ के प्रवर्तन द्वारा मैं भी विश्व के सव जीवो के अविचल शान्ति प्राप्तिमे निमित रूप वन सकू" ऐसी

उत्कृष्ट भावनाके द्वारा आचार्य पदकी आराधना करनेवाली आत्माको भावीकाल में अवश्य ही अरिहंत पद का अधिकार प्राप्त होता है ।

पांचवां स्थावर पद—छठा उपाध्याय पद

आचार्य भगवंत-तो धर्मतीर्थ के संरक्षक होते है । धर्मतीर्थ के संरक्षण की अपनी जिम्मेदारी का यदि ख्याल उन्हे स्वयं रहे, तो ही वास्तविक आचार्य पद के अधिकारी होते है, इसी प्रकार आचार्य भगवान के धर्मतीर्थ के संरक्षण मे उनको सहयोग देते है स्थविर भगवन्त और उपाध्याय भगवन्त ।

शास्त्रो मे तीन प्रकार के स्थविर कहलाते है । १) वय स्थविर २) पर्याय स्थविर ३) श्रुत स्थविर । आयुमे ६० या ७० अथवा उपर आयु हो उन्हे वय स्थविर कहते है । (यहा स्थविर पद मे वय स्थविर के साथ कोइ सम्बन्ध नही है) । परन्तु जिन का चरित्र पर्याय वीस वर्ष से अधिक है वे पर्याय स्थविर कहलाते है ।

जिन्होने गीतार्थ गुरु की छत्रछाया मे रह कर विधिपूर्वक जिन-आगम आदि सब शास्त्रो की वाचना-पृच्छना-परावर्तना अनुप्रेक्षा और धर्मकथा ईन पांचो स्वाध्याय का आत्म स्पर्शी सुदर अभ्यास किया है ऐसे महामुनि श्रुत स्थविर कहलाते है ।

जिस प्रकार आचार्य भगवान श्रमण प्रधान चतुर्विध संघ रुप धर्मतीर्थ का रक्षण करते है उसी प्रकार संयम ग्रहण करने वाले मुनिवरो की सारणा-वारणा-चोयणा-पडिचोयणा आदि के लिये संयम गुण में स्थिर करने का मुख्य कार्य स्थविर भगवंत करते हैं । और संयम की स्थिरता-संयम गुण की वृद्धि मे असाधारण कारण आगम आदि शास्त्रो का अभ्यास है । संयम ग्रहण करने वाले मुनिवरो को

आगम आदि शास्त्रों का सांगोपांग अभ्यास करवाना उपाध्याय महाराज का मुख्य कार्य होता है।

ईस प्रकार स्थविर भगवत और उपाध्याय भगवत भी परपरा से धर्म तीर्थ के सरक्षक होते है। जहा धर्मतीर्थ को सरक्षण की भावना रहती है वहा "सवि जीव करुं शासन रसी" यह भावदयाकी भावना भी अवश्य विद्यमान रहती है। ईस कारण से स्थविर पद तथा उपाध्याय पद की आराधक आत्मा तीर्थंकर नाम गोत्र बध कर के भावी काल में तीर्थंकर पद को भोगने लगती है।

सातवां साधु पद

वीस स्थानको मे से पाचवे-छठे पदमे अनुक्रम से स्थविर पद उपाध्याय पद के बाद स्थान के बाद क्रम आता है साधु पदका। निर्वाण साधक अर्थात मोक्ष साधक योगो को जो साधे वह साधु कहलाता है। साधु पद की आराधना में तीनो काल-पन्द्रह कर्म भूमि के सभी साधुओका समावेश होता है। कोई भी साधु-साधु पद की जिस प्रकार से आराधना करनी चाहिये उस प्रकार से आराधना के लिये उपयोगवत हो, ऐसे मुनिराज की अन्तर आत्मा मे प्रतिक्षण ६ काय के जीवो को अर्थात् जगत के सभी जीवो को अभय दान की भावना विद्यमान हो।

चलने की-बोलने की-पीने की-सोने की-बैठने की प्रवृत्ति मे, किसी भी सूक्ष्म, बादरत्रस या स्थावर-जीवो को किसी भी प्रकार से थोडी भी पीडा न हो अथवा किसी दूसरे के द्वारा किसी भी जीवको अनजान पने मे भी पीडा न हो, और उस का अनुमोदन न हो जाय ईस विषय मे ये साधु भगवत सदा उपयोगवत व सजाग रहते है। सक्षेप मे यदि कहा जाय तो ये साधु भगवत ही है। जो ६ काय का अर्थात् विश्ववर्ती सभी जीवो को दया रुप रक्षण प्रदान करते है। ईस से

भी स्पष्ट शब्दो मे यदि कहा जाय तो ये साधुभगवत धर्मतीर्थ की आराधना के मूर्तिमत स्वरुप होते है । ईस अपेक्षा से मुनिराजो को "जगम" धर्मतीर्थ के रुप में माना जाता है। यह शास्त्रोक्त सबोधन है। जिस प्रकार से होना चाहिये, उसी प्रकार से यदि हो तो ईस साधु पद का सर्वोत्कृष्ट आराधक आत्मा के अन्तर में जीवदया की जो पराकाष्टा होनी चाहिये यदि वैसी ही हो तो ईस साधुपद की आराधक आत्मा भी तीर्थकर नाम कर्म का निकाचित बध कर सकती है ।

आठवा-ज्ञान पद, नवां दर्शन पद, दसवां विनय पद

सातवे साधुपद के बाद आठवे पदमें ज्ञान, नवमे पदमे दर्शन पद, दसवे पदमे विनय पद का स्थान है। अरिहत पद, सिद्ध पद तथा साधु पद तक के पद गुणवत आत्मा के आराधना के पद है । गुणवन्तो की आराधनामे गुणकी आराधना यद्यपि आ ही जाती है। फिर भी गुणवत आत्माओ की महत्ता व्यक्ति के कारण से नही परन्तु उस में विशिष्ठ गुणके कारण ही होती है। ईसी कारण से ईन का स्पष्टीकरण के लिये ज्ञान आदि पदो को जुदा स्थान दिया गया है। गुणवत की आत्मा की आराधना से जो कार्य सिद्ध होता है ईसी कार्य की सिद्धि द्वारा गुण की आराधना भी अवश्य हो जाती है। इस प्रसग में उसका स्पष्टीकरण हो जाता है।

सम्यक् ज्ञान "सच्चा" किसे कहा जाय ?

ज्ञान अर्थात् दीपक, ज्ञान अर्थात् प्रकाश, ज्ञान अर्थात् अतरमें ज्वलित प्रकाश प्रगटाने वाला, यह ज्ञान अर्थात् उन भावो को स्पष्ट रुप से पहचानने वाला, आत्मा की दिव्य ज्योति स्वरुप, सर्व जीवात्माओ मे किसी भी आत्मा की किसी भी गति में—"सूक्ष्म निगोद" जेसे स्थान मे भी ज्ञानका अनतवा प्रकाश अश तो सदा खुला रहता ही है। परन्तु मिथ्यात्व मोहके तथा अनतानुबधी कषायोके औदयिक भाव के

कारण इस ज्ञान का अनतवा अश अनादि कालसे अपने आत्ममदिर मे प्रकाश होने के वदले, "पौद्गलिक (वाह्य—भौतिक)" पदार्थों मे उसका प्रकाश फैलता है। और इस कारण से भौतिक पदार्थोकी अनुकूलता प्रतिकूलता मे सुख दु ख की भ्रामक कल्पना खडी हो जाती है।

इस कारण से महापुरुषो को ऐसे तुच्छ या अविक ज्ञान को अज्ञान रुप में ही मानना चाहिये। जिस क्षण मिथ्यात्व मोह अथवा "अनतानुवधी" आदि का उपशम होता है उसी समय तुच्छ या अविक ज्ञान का उस आत्मा मे प्रकाश फैलता है। इस क्षण में आत्मा को जो आनन्द प्राप्त होता वह अवर्णनीय होता है।

ऐसे ही समय इस आत्मा को आत्मा मे रहे परमात्म स्वरुप देवाधिदेव का दर्शन का प्रारम होता है। इस ज्ञान ज्योति द्वारा आत्मा के जीवन व्यवहार में एक दम परिवर्तन आ जाता है, ऐसा ज्ञान ही सच्चा ज्ञान कहलाता है अर्थात् सम्यग् दर्शन है।

यही ज्ञान विनय गुण का मूल है। इस ज्ञान के प्रगट होने के वाद इस आत्मा की दृष्टि मे अजव-गजव का परिवर्तन होता है अव इस आत्मा में अहभाव नही होता, अहभाव हो भी तो अधिक समय तक नही टिकता, तीन गुणो की आराधना करने वाले के मनमदिर मे भावदया की प्रधानता अवश्य ही प्रगट हो जाती है और इस भावदया के उत्कृष्ट पन आ जाने से तीर्थंकर नाम गोत्र का "निकायत" वध भी इस आत्मा को अवश्य ही हो जाता है।

ग्यारहवां चरित्र पद :

दसवें पद मे सभी गुणो के मूल रुप—विनय पद का स्थान आया है। इस विनय गुण के द्वारा दूसरे गुण भी जल्दी या देरीसे खिचे से चले आते है। इस गुण के वाद (विनय गुण) इस गुण के साथ फल स्वरुप चरित्र गुण का स्थान आता है।

भव-२५

भगवान महावीर की आत्मा नंदनमुनि के रूपमें वीस स्थानक तप की आराधना करते हुये, तीर्थंकर पद की निश्चित योग्यता प्राप्त करते हैं।

पृष्ठ १९२ देखो

पच महाव्रतो का स्वीकार करे, यह द्रव्य चरित्र अथवा भाव चरित्र कहलाता है। इन पचमहाव्रतो के परिपालन के साथ क्रोध आदि कषायो की लघुता हो, परभाव रमणता कम हो, और निजगुण रमणता प्राप्त करे वह भाव चरित्र अथवा निश्चय चरित्र कहलाता है। कोई भी मुक्तिगामी आत्मा इस भाव चरित्र के सम्पूर्ण पने को सर्वात्म प्रदेश मे स्पर्शना प्राप्त किये बिना मुक्ति की अधिकारीणी नही बन सकती। सम्यग् दर्शन तथा सम्यग् ज्ञान ये दोनो मुक्ति के परपर कारण है। भाव चरित्र यह ही यथार्थ में चरित्र है इतना होने पर भी द्रव्य चरित्र के बिना भाव चरित्र की प्राप्ति अशक्य होने मे द्रव्य चरित्र की भी उतनी ही जरुरत होती है।

"मैं स्वय ऐसे सर्व शान्ति प्रदान करने वाले द्रव्य भाव की आराधना कर अपनी आत्मा को मुक्ति का अधिकारी बनाऊ, इतने मे ही मुजे सतोष नही, मेरी तो इतनी भावना है कि मेरी इस चरित्र धर्म की आराधना द्वारा मैं भावी काल में ऐसे धर्मतीर्थ के प्रवर्तन का अधिकारी बनू जिस धर्मतीर्थ की शरण में आने वाली सभी भव्यात्माओ चारित्र पदकी आराधक बनकर अनतर अथवा परपर रूपसे मुक्ति की अधिकारिणी बनें"।

जिस सम्यग् दृष्टि की अन्तर आत्मा मे ऐसी भावना उत्कृष्ट रूप मे प्रगट होती है वह आत्मा तीर्थ कर नाम गोत्रका अवश्य बध करती है।

बारहवां ब्रह्मचर्य पद :

चरित्र पदका प्राण रूप यह बारहवा ब्रह्मचर्य पद है। प्राण बिना का शरीर मृतक (मुर्दा) कहलाता है। और इसमें से दुर्गन्ध फूटती है। उसी प्रकार से ब्रह्मचर्य के बिना चरित्र भी मृतक के समान होता है। और ऐसे चरित्रमें से दुर्गन्ध निकलती है।

पर ब्रह्म और अपर ब्रह्म यह दो प्रकारका ब्रह्म कहलाता है। इसमे पर ब्रह्म अर्थात् मोक्ष, अपर ब्रह्म अर्थात् ससार । परब्रह्मका प्रधान कारण ब्रह्मचर्य है । जीवन मे "नवकोटि शुद्ध' जो ब्रह्मचर्यका स्थान है, उससे यह आत्मा अल्प काल मे भवसागर से पार हो जाती है। जीवन मे वेशक दूसरे भी वहुत से व्रत—नियम हो परन्तु यदि ब्रह्मचर्य व्रत नही हो तो दूसरे व्रतो की कोई कीमत नही होती ।

किसी सयोग मे दूसरे अन्य व्रत या नियमोके प्रति आदर होते हुए भी यदि जीवन में उनका अभाव हो परन्तु एक ही ब्रह्मचर्य व्रत नवकोटि शुद्ध जीवन में आ जाय तो दूसरे व्रतनियम अपने आप अल्पकालमे ही आ जाते है । पाच इन्द्रियोकी पराधीनता यह "अब्रह्म" है । और पाच इन्द्रियो पर पूर्ण रूपसे (विषयो पर) कावू और सयम यह ब्रह्मचर्य कहलाता है । सभी व्रतो मे ब्रह्मचर्य मुकुट के समान है ।

"इस ब्रह्मचर्यकी—ब्रह्मचर्य पद की मैं ऐसी सर्वोत्कृष्ट आराधना करू कि भावीकालमें धर्मतीर्थके आराधन द्वारा सर्व महात्माओं को भी, इस ब्रह्मचर्य व्रत का आराधक वनानेमें निमित रूप वन सकु" । ऐसी उत्तम भावनाको सदा धारण करनेवाली आत्मा भी तीर्थंकर नाम कर्म का वध कर भावीकालमें तीर्थ कर पद की अधिकारिणी हो जाती है ।

तेरहवा शुभ ध्यान पद (प्रासंगिक आर्त—रौद्र का स्वरूप)

ध्यान चार प्रकारका होता है—आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल, ।

कोई भी एक ससारी जीव को अनत काल के वीच शुभ—अशुभ अध्यवसाय अथवा, अव्यक्त मानसिक विचार, जो आते हैं ऐसे सर्व विचारो का इन चार प्रकार के ध्यानो मे समावेश होता है । इन चारो ध्यानो में रौद्र ध्यान सवसे अधिक खराव—दुष्ट ध्यान होता है । यदि इस ध्यानमें आत्मा लग जाय तो उस आत्माको उसी अवसरमे परभव की आयुष्य का वध हो जाता है । इस रौद्र ध्यान के प्रसगमे

अतरआत्मा मे विशिष्ट प्रकार की क्रूरता आदि उग्र दूषण प्रकट होते है। वाघ–रीछ, चीता, बिल्ली, वाघरी, कसाई, आदि लोभी आत्माए ये रौद्र ध्यानकी अधिकारी गिनी जाती है।

आर्तध्यान—यह भी एक अशुभ ध्यान है परन्तु रौद्र ध्यान की तरह इसमे क्रूरता नही है, दुष्टता नही है। किसी भी आत्मा को जब तक वास्तविक धर्म का स्थान प्राप्त नही होता तब तक इस आत्माको आर्त और रौद्र इन दोनो का होना सभव होता है। फिर भी रौद्र ध्यान की अपेक्षा–आर्त ध्यान का काल काफी बडा होता है। अनतकाल से अज्ञान भाव के कारण में पर पदार्थों की अनुकूलता में आत्मा ने जो सुख मनाया है वह आर्तध्यान कहलाता है। इन परपदार्थों को प्राप्त करने की चिन्ता भी आर्तध्यान है। जब इन पदार्थों का वियोग होता है और शोक सताप होता है यह भी आर्तध्यान है। इन पर-पदार्थो की प्रतिकूलता होने के बाद अनुकूलता पानेके लिये सतत विचार मे रहना यह भी आर्तध्यान है "मेरे जीवन मे (वर्तमान या भावी) इन पदार्थो की अनुकूलता के सिवाय मुझे दूसरी किसी वस्तुकी आव-श्यक्ता नही है" ऐसा तीव्र परिणाम यह भी सर्वोत्कृष्ट आर्तध्यान है।

रौद्रध्यान से बचना तो शक्य है, परन्तु आर्त और रौद्र ईन दोनो ही ससार मे दुर्गतिका कारण है। अनत काल मे यह जीवात्मा जो ससार में टिकी हुई है उसका प्रधान कारण आर्तध्यान है।

"धर्म और शुक्ल ध्यान का सक्षिप्त स्वरूप"

आत्मा के आत्म स्वरूप का चिन्तन, अथवा इस चिन्तन की, उसी प्रकार सम्यग् दर्शन आदि गुणो की अनुकूलता मे अनतर अथवा परपर कारण स्वरूप देव-गुरु-धर्मकी आराधना यह धर्मध्यान कहलाता है। सामयिक-देव, दर्शन, पूजन आदि धर्म क्रिया का स्थान जीवन

में आना कठिन तो होता है, परन्तु फिर भी जीवनमे धर्म क्रिया की भावना आती ही है। अनेक वार अनेक भवो में धर्म क्रिया करनेके वाद भी, जीवन मे धर्मध्यान प्राप्त होना कठिन प्रतित होता है। चिर काल तक आत्मा मे रही हुई अज्ञान दशा के कारण पौद्गलिक भावोकी अनुकूलता-प्रतिकूलता मे आत्मा की सुख-दुख की कल्पना जो निश्चित है उस के कारणसे धर्मक्रिया वार वार होने पर भी आत्मा का आत्मा में ही लक्ष्य स्थिर नही हो पाता ईस प्रकार जिस घडी-परघर में भटकती ईस आत्मा को अपने करने का आभास हो जाता है, अथवा ईस भावना का वीजारोपण हो जाता हे, उसी घडी इस (स्वआत्मा के विचार) आत्मा मे धर्मध्यान का प्रारम शुरु हो जाता है। और एक वार जिसे सच्चे रुपमे धर्म ध्यानका प्रारम हुआ (चाहे किसी कारण वश वह धर्मध्यान से खिसक भी जाए) फिर भी वह धर्मध्यान की परपरागत शुक्लध्यान करने के साथ-अवश्य ही मुक्त पद की अधिकारिणी हो जाती है।

"देव दर्शनादि धर्मक्रिया द्वारा मेरी आत्मा मे रहे-राग-द्वेष काम—क्रोध आदि दूपणो का अभाव कैसे हो ? कैसी भी विपत्ति के समय मेरा पूर्व सचित कर्म ही मेरी आपत्तिका कारण है इस प्रकार के सतत चितन मनन द्वारा समभाव रख कर हिंसा आदि पापो के सेवन से मैं सदा वच नही सकता, यह मेरे तीव्र अशुभ का उदय है, पापो को त्रिकरणयोग से त्याग करना यही अरिहत देव की आज्ञा है। इस प्रकार से सतत चिन्तन—मनन हो—और अपने आत्म स्वरुप के चिन्तन के साथ विश्व के स्वरुप का भी थोडा वहुत चितन हो यह सव धर्मध्यान के प्रकार है। इस धर्मध्यान के द्वारा आत्मा सवर और सकाम निर्जरा का लाभ प्राप्त करने के वाद "पुण्यानुवधी पुण्य" का उपार्जन कर लेती है। और इसके परिणाम स्वरुप शुक्लध्यानको प्राप्त करती है।

शुकल ध्यान .

श्रुत के आलम्बन से, अथवा आलवन के विना धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य—और पर्यायो के यथार्थ चिन्तन मे स्थिरता व एकाग्रता, उसी प्रकार आत्मा का आत्मा मे, स्थिर हो कर आत्मा के लिये ध्यान यह शुक्ल ध्यान का सर्वोत्कृष्ट प्रकार है। शुकल ध्यान यह अनतर अथवा परपर मे मोक्ष का कारण है।

"मेरी आत्मा-आर्त-रौद्र ध्यान में मे किसी प्रकार वचे, और उस मे धर्म ध्यान—शुक्र ध्यान का जोड दो इतना ही नही, इस धर्मध्यान और शुकल ध्यान की सर्वोत्कृष्ट आराधना द्वारा विश्ववर्ती जीवात्माओ को भी धर्मतीर्थ के आलम्वन के लिये आर्तरौद्र मे से वचा कर धर्म शुकल ध्यान की प्राप्ति में मैं सहायक वनू निमित्त वनू," एसी सर्वोत्तम भावना का सतत परिशीलन करने वाली आत्मा अवश्य ही तीर्थंकर नाम कर्म का वध करती है।

चौदहवां तप—पद :

प्रवाह की अपेक्षा से अनत काल से आत्मा के साथ चिपटे हुए चिकने कर्म (विना भोगे रहे हुए) आत्मा से दूर करने की ताकत जिस मे है वह है तप, ऐसी शक्ति ओर किसी मे नही है। सुवर्ण को शुद्ध करने के लिये जिस प्रकार "रिफायनरी" अथवा प्रचड अग्नि के ताप की (तपन की) आवश्यक्ता होती है उसी प्रकार से आत्मा को शुद्ध करने के लिये तप की भी आवश्यक जरुरी हो जाती है। यदि दूसरे शब्दो मे इसे कहा जाय तो यह कहना उचित होगा कि आत्मा की शुद्धि के लिये—तप एक रिफायनरी रुप है। तपके दो प्रकार होते हैं (१) वाह्य (२) अभ्यन्तर। इन दो भागों के फिर ६—६—प्रतिविभाग है। वाह्य तप मे अशन, पान, खादिम, स्वादिम, इन चार प्रकारसे आहार सवधी अल्पाश किवा सर्वांश

त्याग की प्रधानता पूर्वक कायिक सहनशीलता और इन्द्रियों के ऊपर विजय प्राप्त करने का दृष्टि बिन्दु है।

अभ्यन्तर तप मे अपने दोषो का शुद्धिकरण, बडो का विनय –आदर, छोटो की यथायोग्य सेवा, भक्ति, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग और ध्यान आदि द्वारा आत्म स्वरुप में स्थिरता प्राप्त करने के लिये लक्ष्य रखना आदि का समावेश है।

इन दोनो प्रकार के तपमें अभ्यन्तर तप की प्रधानता है। इतने पर भी आहारकी लोलुपता के त्याग स्वरुप वाह्य तप के आचरण के विना अभ्यन्तर तप की प्राप्ति अशक्य होते हुए भी वाह्य तप की भी वैसी ही प्रधानता है।

जैन शासन में तप की जितनी महानता है और उस की जितनी आचरण मानी जाती है वैसी महिमा और आचरणा दूसरे किसी भी दर्शन में नही है।

"ऐसे उत्तम प्रकार के तप की मैं सुदर आराधना करू और भाविकाल में असख्य भव्य जीवो को इस पवित्र तप की आराधना करवा कर धर्म तीर्थ की प्रवर्तना द्वारा–निमित्त वनू" इस प्रकार से सतत् सर्वोत्कृष्ट भावना रखने वाली आत्मा भी जिन नाम कर्म के वध की अधिकारिणी होती है।

पन्द्रहवां "गोयम" अथवा –प्रथम गणधर पद :

पन्द्रहवे पद में, किसी किसी ग्रन्थ मे सुपात्रदान को, और कुछ ग्रन्थो में "गोयम" पद को स्थान दिया गया है। अपेक्षा से यदि विचार किया जाय तो सुपात्रदान यह एक गुण है और गोयम पद यह गुणी है। गुण और गुणी के अभेद्य सम्वन्ध को विचार मे

रखते हुए सुपात्र दान—अथवा गोयम पद का स्थान बरावर है। यहा यह बात ध्यान मे रखने योग्य है कि गोयम पद का अधिकारी—श्रमण भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति को ही नही मानना चाहिये, परन्तु अढाई द्वीप मे तीनो काल मे सभी तीर्थंकरो के प्रथम गणधर भगवत—इस पन्द्रहवे पद के अधिकारी व योग्य लगते है। जैन शासन मे भगवान तीर्थंकर का प्रथम स्थान है। और उनके बाद गणधर भगवतो का नाम होता है, तीर्थंकर भगवान के जितने भी गणधर हो वे सब एक एक ही गणधर पद की लब्धि से समान पूजनीय माने जाते है। इतना होने पर भी प्रथम गणधर का स्थान दूसरे गणधरो से ऊचा माना जाता है। तीर्थंकर पद की शास्त्रो मे की गई व्याख्या के प्रसग मे—चतुर्विध सघ को तीर्थ के रूप मे माना गया है, उसी प्रकार से प्रथम गणधर को भी तीर्थ के रूप मे माना जाता है।

प्रथम गणधर भगवन्त की महत्ता

कोई भी तीर्थंकर भगवान केवल ज्ञान प्राप्त होने के वाद समवसरणमें प्रथम धर्म देशना देते है —उसी अवसर पर गणधर पद की योग्यता वाले-महानुभाव-समवसरण मे हाजिर होते है। भगवान की धर्म देशना सुन कर उन्हे प्रतिबोध उत्पन्न होता है। और वे उसी स्थान पर सयम ग्रहण कर लेते है। इतना ही नही उसी समय तीर्थंकर भगवान के श्री मुख से—

"उप्पनेइ वा—विगमेई वा—धुवेई वा" इस त्रिपदि के श्रवण मे ही अतर्मुहूर्त मात्र मे समग्र द्वादशागी सूत्र रचना प्रत्येक गणधरो की बीज वृद्धि मे क्रमबद्ध रूप मे सकलन रूप से तैयार हो जाती है।

सभी गणधरो की द्वादशागी सूत्र रचना की अपेक्षा से अक्षर-पद-वाक्य में तरतमता होना सभव ही है। फिर भी-अक्षर-पद-वाक्यो

की तरतमता होते हुए भी भावार्थ मे तरतमता नही होती। सभी गणधर अपने अपने शिष्य परिवार को अपनी अपनी रचित द्वादशागी का यथायोग्य अभ्यास करवाते है। फिर भी यदि जब तक प्रथम गणधर विद्यमान है तब तक (अमुक संयोगो मे उसके बाद भी) उस उस तीर्थंकर के शासन के बीच चतुर्विध सघ मे प्रथम गणधर की द्वादशागी का सूत्र अर्थ रूप मे अध्ययन प्रवार्न रूप से चालु रहता है। किसी भी भव्यात्मा को--ससार सागर को प्राप्त करने मे प्रथम असाधारण कारण भाव से सम्यग् श्रुत ज्ञान ही होता है। और इस सम्यग् भाव श्रुत की प्राप्ति का प्रधान कारण यह द्वादशागी अथवा उसका एक भी अक्षर—तथा उस के आधार रूप दी गई धर्म देशना तथा रची गइ सूत्रानुरुपी धर्म ग्रन्थ वाणी का श्रवण भी श्रुत माना जाता है।

इस प्रकार के आशय को ध्यान मे रखते हुए—सम्यग् श्रुत रूप द्वादशागी को, तथा उसके प्रणेता प्रथम गणधर को और उसके अवलम्बन से भावश्रुत को प्राप्त करने के उपरान्त-इस द्वादशागी के सरक्षण के लिये तन-मन-धन का यथा योग्य भोग देनेवाला श्रमण प्रधान चतुर्विध सघ को भी तीर्थ स्वरूप माना जाता है।

इस अपेक्षा से पन्द्रहवा "गोयम पद" (प्रथम गणधर पद) का बहुत महत्व है। बेशक—तीर्थंकर भगवन्तो ने धर्म देशना द्वारा विश्व के सभी भावो का यथार्थ प्रतिपादन किया, परन्तु द्वितीय बुद्धि के रूप मे उन का निदान गणधर भगवन्तो ने उन्ही की (परमात्मा) वाणी को द्वादशागी रूप मे सकलित किया। अगर ऐसा न हुआ होता तो परमात्मा तीर्थंकर देवो के निर्वाण के साथ ही धर्म तीर्थो के विच्छेदका प्रसग खडा हो गया होता।

भगवान महावीर के निर्वाण के लगभग २५०० वर्ष बीत जाने पर भी भगवान का शासन आज भी विद्यमान है और भी १८५०० वर्ष

तक यह शासन अभी और अविछिन्न रुप मे टिका रहने वाला है, इस का मुख्य कारण शासन को स्थिरता प्रदान करने वाला द्वादशागी के प्रणेता प्रथम गणधर भगवान हैं। इसी कारण से दूसरे सभी पदो की तपस्या में एक उपवास होता है परन्तु इस पन्द्रहवे पद की तपस्या में छट्ठ के तप का विधान है।

यह व्यवस्था एक उपवास मे—बीस स्थानक की आराधना के लिये हैं, परन्तु छट्ठ-अष्टम आदि तप से विंशति स्थानक की आराधना करने वाले महानुभाव के लिये तो चालू जो तप है उस की अपेक्षा मे पन्द्रहवे पद की आराधना के प्रसग मे इतना तप करने का विधान हो तो कोई स्वाभाविक है।

"गोयम पद—और दान पद का समन्वय"

दान पद को यदि पन्द्रहवा पद मे लिया जाय, तो--विश्व मे ज्ञान दान जैसा कोई दूसरा उत्तम दान नही है। दान के दूसरे सभी प्रकार को समझाने वाला यह ज्ञान दान ही है। और द्वादशागी की रचना की अपेक्षा इस ज्ञान दान का आद्य-महापुरुष भी तो प्रथम गणधर भगवान ही हैं। इस प्रकार से पन्द्रहवे पद मे प्रथम गणधर अथवा दान पद को स्वीकार करने मे कोई बाधक हेतु नही हैं। जो भाग्यवान भव्यात्मा इस गोयम पद की उत्कृष्ट भाव से आराधना करती है और साथ साथ "सवि जीव करु शासन रसी" इस भावना से त्रिकरण योग मे सतत ध्यान रखती है वह आत्मा अवश्य ही तीर्थंकर नाम गोत्र का बध करती है।

सोलहवा—वैयावृत्य तथा सत्रहवा समाधिपद

उपर कहे अनुसार पन्द्रहवे गोयम पदके उपरान्त सोलहवे पदमे वैयावृत्य पद को क्रम आता है।

विजय लक्ष्मी सूरि महाराजने विंशति स्थानक की पूजामें सोलहवे पदमें "जिन" पद को स्थान दिया है। तथा ०प विजय लक्ष्मी सूरि जी महाराज ने सोलहवे पदमे वैयावच्च पद को स्थान दिया है।

अव सोलहवें पद मे "जिन" शब्द को लिया जाय या "वैयावच्च" पद को लिया जाय ? इस से शास्त्र मे कोई बाधा उत्पन्न न हो उस प्रकार से समन्वय हो तो कोई विरोध होने का प्रश्न ही नही उठता। 'जिन" शब्द का अर्थ यहा भगवान अरिहत नही लेना चाहीये, कारण यह अरिहत पद का तो सब से पहले ही स्थान आ चुका है।

परन्तु आचार्य—उपाध्याय तपस्वी तथा विशिष्ट लब्धिमान—परमावधिज्ञान वाला, मन पर्यवज्ञान वाला आदि महर्षि गण, तथा संघ को माना जाना चाहीये। यहा "जिन" पद का अर्थ राग द्वेषादि अतरग शत्रुओ पर जो विजय प्राप्त करता है तथा उसके लिये पुरूषार्थ करता है ऐसे महानुभाव के लिये उपयुक्त समझना चाहीये।

"तत्वार्थाधिगम" सूत्र में आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी आदि दस प्रकार के वैयावच्च स्थान का वर्णन आता है। ईस दस प्रकारो मे अवधि जिन मन पर्यव जिन वगैरह जिन भगवतो का समावेश कर लिया जाय तो सुसगत होगा। सापेक्ष भाव से कहने मे आए तो आचार्य—उपाध्याय या सघ इन दसो पदो मे रत्नत्रयी की आराधना और रागद्वेपादि शत्रुओ से विजय की ही प्रधानता है।

आचार्य पद—उपाध्याय पद—स्थविर पद की आराधना तो पहले आ ही चुकी है। अव तप सयम की विशिष्ट आराधना के

लिये अनेक प्रकार की लब्धियो को प्राप्त करने वाले और इन लब्धियो के द्वारा अनेक भव्यात्माओ को जिन शासन की आराधना का रसिया बनाने के साथ अनतर अथवा परपर रूप से सभी कर्मो का क्षय कर भव्य भी मोक्ष प्राप्त करने वाले महात्माओ की वैया वच्च सेवा भक्ति के लिये, यह सोलहवा पद है।

"सव्व किर पडिवाई—वैयावच्च अप्पडिवाई" दूसरी धर्म क्रिया का फल सयोग वश मिले अथवा न मिले परतु रत्नत्रयी की आराधना करने वाले और असख्य आत्माओ को रत्नत्रयी की आराधना मे जोडने वाले आचार्य, उपाध्याय तथा विशिष्ट लब्धिवत अवधिजिन परमावधि जिन—आदि की सेवा भक्ती—वैयावृत्य का फल तो अवश्य ही प्राप्त होता है।

इतना ही नही अपितु इस वैयावृत्य पद की आराधना उत्कृष्ट भावसे हो जाए और इस वैयावृत्य पद के साथ भावदया की पराकाष्टा निश्चित रूप से प्रगट हो तो वह आत्मा तीर्थंकर नाम कर्म गोत्रका अवश्य बध करती है।

सत्रहवां समाधि पद

आत्मा को वास्तविक रूप मे समभाव मे टिकाना, इस का नाम समाधि है। समता-समभाव-निर्विकल्पदशा ये सब पद लगभग समान अर्थवाचक है। सम्यग् दर्शन का फल सम्यग् ज्ञान है, सम्यग् ज्ञानका फल विरति अथवा सयम है। सयम का फल समाधि है। अब इस समाधि के फल मे सवर, निर्जरा और परपरा मे मोक्ष है।

इस समाधिपद की आराधना सिवा अर्थात आत्ममदिर मे समाधि-प्राप्त हुए विना कोई भी आत्मा भूतकाल मे मोक्ष मे नही गई, वर्तमान मे जाती नही और भविष्य मे जाएगी भी नही।

"ऐसे समाधिपद की मेरे जीवन मे ऐसी उत्कृष्ट आराधना हो कि मैं स्वय मुक्ति पद का अधिकारी बनने के साथ असख्य आत्माओं को इस समाधि पदकी आराधना मे निमित्त बनू" ऐसी त्रिकरण योग से भावना का परिशीलन करने वाली आत्मा अवश्य ही "जिन" नामका निकाचित बध करती है। और भावीकाल मे तीर्थंकर का ऐश्वर्य प्राप्त करने के साथ धर्मतीर्थ की स्थापना करने मे असख्य मान्यताओं को मुक्तिपथकी अधिकारी बनाती है।

अठारहवा अभिनव ज्ञान पद

"अपुव्व नाणगहणे निच्चमासेण केवलुप्पत्ति" ऐसे शास्त्र सिद्धान्तो मे जो कथन है इसका भावार्थ यह है कि "निरतर नए नए शास्त्रो अथवा श्रुत के अध्ययन करने की अभिलाशावाले और इस प्रकार से सदा श्रुत ज्ञान की आराधक आत्मा को अल्पकाल मे केवल ज्ञान प्राप्त हो जाता है। प्रति समय, जिनेश्वर देव की भक्ति तथा व्रत–नियम -तप-सायम की यथोचित आराधना जैसे दर्शन मोह और चरित्र मोह के निवारण मे प्रबल साधन है। उसी प्रकार से गीतार्थ की छत्र छाया मे रह कर आत्म कल्याण की भावना से नए नए श्रुत ज्ञान अथवा तत्व ज्ञान प्राप्त करने की मगलमय प्रवृत्ति, ज्ञानावरण, दर्शनावरण के निवारण के लिये असाधारण कारण है।

"मेरे जीवन मे ऐसे अभिनव तत्वज्ञान को प्राप्त करने की भावना जागृत हो-और इसके उपरान्त विश्व के सभी जीवोको वैसा ही अभिनव तत्व ज्ञान जानने-प्राप्त करने की तीव्र अभिलाशा जागृत करने मे तथा धर्मतीर्थ की स्थापना मे मै निमित्त रुप बनु" ऐसी उत्कृष्ट भावना निरन्तर आत्म मदिर मे रखकर आराधना मे लीन महानुभाव भी तीर्थंकर नाम कर्म का निकाचित बध करता है। और भावी काल मे अरिहत पद का ऐश्वर्य प्राप्त करता है।

उन्नीसवा श्रुतपद

जीवन में नया नया तत्वज्ञान प्राप्त करने के लिये, हर हमेशा शास्त्र के अध्ययन में तथा उन के चिन्तन मे मनन परिशीलन मे उद्यम करना यह एक बहुत बडी बात है । साथ ही साथ उसी प्रकार से, शास्त्र का अध्ययन व अध्यापन में पुरुषार्थ करने वालोकी (महानुभावकी) सेवा भक्ति—वैयावच्च करनी, शास्त्र सिद्धान्तो को लिखाना अथवा सुरक्षित रखना, और उस के लिये तन-मन-धन का सम्पूर्ण भोग देना ऐसी श्रुत पद की आराधना आत्म हित के लिये अत्यन्त अनुमोदनीय है । तीर्थकर प्रभु, गणधर—भगवान, तथा उसी प्रकार मे सातिशय ज्ञानी भगवतो की अनुपस्थिति मे जिन शासन की आराधना का असाधारण कारण—आगम आदि शास्त्र ग्रन्थ है । ऐसे आगम आदि ग्रन्थों की त्रिकरण योग मे होती भक्ति मे भावदया तो सदा ही निहित रहती है । यह भक्ति यदि पराकाष्ठा पर पहुच जाए तो "जिन" नाम का निकाचित बध होने मे जरा भी देर नही लगती ।

बीसवां तीर्थपद

जिसके आलम्बन मे आत्मा भवसागर से पार हो जाए उस का नाम है "तीर्थ" । आगम आदि ग्रन्थो मे तीर्थ शब्द की व्याख्या में—जिन प्रवचन, प्रथम गणधर भगवान, तथा चतुर्विध सघ को स्वीकार किया है यह सर्वथा यथार्थ है । इस जिन प्रवचन रुपी मगलमय तीर्थ का अवलबन कर—मुक्तिगामी असख्य आत्माए जिस स्थल पर सकल कर्म को क्षय कर निर्वाण पद को प्राप्त की हो उस भूमि को भी तीर्थ स्वरुप माना जाता है । मुक्ति गामी सख्य-असख्य आत्माओ द्वारा पवित्र किये वातावरण से—यह भूमि पवित्रता प्राप्त करती है । जिस प्रकार जिन वचन के अवलम्बन मे भव्यात्मा को विशुद्ध भावना प्राप्त होती है, उसी प्रकार की भावना इसी तीर्थ

भूमि के दर्शन, स्पर्श और अवलम्बन से भी प्राप्त होती है।

भगवान तीर्थकर प्रभु तो सर्वोच्च सर्वोत्तम तीर्थ है ही परन्तु उन तीर्थकर भगवन्तो की यह कल्याणक भूमि—विहार भूमि भी जिन शास्त्रो मे तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध मानी जाती है।

भगवान तीर्थकर देव ने भव्य जीवो के कल्याण के लिये जिन प्रवचन रूप धर्म तीर्थ की प्रवर्तना की, इस तीर्थ के साक्षात् मूर्तिमान स्वरूप प्रथम गणधर भगवान (अपेक्षासे कोई भी गणधर भगवन्त) भी तीर्थ है। इस धर्म तीर्थ के आधारभूत चतुर्विध सघ भी तीर्थ है। धर्म तीर्थ स्वरूप जिन प्रवचन को सुनने वाला, श्रुत सामयिक, सम्यक्त्व सामयिक, तथा सर्व विरति सामयिक प्राप्त करने वाले श्रमण निर्ग्रन्थ (साधु) ये भी धर्म तीर्थ है। ऐसे श्रमण निर्ग्रन्थ हजारो-लाखो-की सख्या में जिस भूमि पर सकल कर्म क्षय कर निर्वाण पद को प्राप्त हुए हो वह भूमि भी तो तीर्थमय ही है। इस प्रकार से स्थावर तथा जगम इन दोनो तीर्थो की मैं ऐसी अपूर्व साधना—आराधना करु कि मेरी आत्मा भाविकाल मे स्थावर जगम दोनो तीर्थो के प्रवर्तन में निमित्त रूप बने" ऐसी उत्कृष्ट भावना प्राप्त करने वाला महानुभाव तीर्थकर नाम गोत्र का बध कर भविष्य मे तीर्थकर पद को प्राप्त करता है।

१८

"नन्दन मुनिवर का प्रशंसनीय सयम जीवन"

नन्दन मुनि ने जिस दिन से सयम ग्रहण किया तव से सम्पूर्ण जीवन पर्यन्त मासक्षमण के पारणे फिर मास क्षमण की उग्र तपस्या का प्रारम्भ किया था। इस के वाद आर्त और रौद्र इन दुर्ध्यानो मे वचे रहने के लिये वे सदा जागृत रहे। राग और द्वेष के परिणामो द्वारा कर्म के वव मे वचने के लिये वे सदा सावधान रहे। मानदड-वचनदड-कायदड-ऋद्धि गारव-रस गारव-शाता गारव-माया शल्य-नियाण शल्य-मिथ्या दर्शन शल्य से दूर रहने के लिये वे सतत प्रयत्नशील रहे। क्रोव आदि चार प्रकार के कषाय, आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार सज्ञाओ, राजकथा, स्त्रीकथा देशकथा व भक्त कथा इस प्रकार की चार विकथाओ आदि ससार परिभ्रमणका प्रवान कारणो से भी नन्दन मुनि सदा दूर रहे।

"सयम ग्रहण करने के वाद देवसवधी, मनुष्य सववी, पशुपक्षी सवधी जो भी उपसर्ग उन्हे प्राप्त हुआ उसे वीरता से सहन करने में मेरु समान निश्चल रहे।

पचमहाव्रतका पालन, पाचो इन्द्रियो पर पूर्ण विजय, पाच प्रकार के स्वाध्याय में सदा रत, पच समितिके पालनमें सदा सावधान, ६ कायके जीवो की रक्षामे सदा परायण, सातो प्रकारके भयका परित्याग, आठ प्रकार के मद का पूर्ण अभाव, नौ प्रकारके ब्रह्मचर्य का

निरतिचारसे परिपालन, दश प्रकारके यती धर्म की सुन्दर आराधना, ग्यारह अगो का पूर्ण बोध, साधु धर्म की बारह प्रतिमाओं की अपूर्व आराधना" करते हुए नन्दन मुनि सयम श्रेणी में उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त करते रहे ।

इसके साथ साथ विंशति स्थानक की सुन्दर आराधना तथा "सवि जीव करू शासन रसी" की तीव्र भावना के कारण उन्होंने तीर्थकर नाम कर्मका निकाचित बध किया । इस से पूर्व के अध्याय मे विंशति स्थानक के प्रत्येक पद का तथा उनके साथ जुडी हुई भावदया का सक्षेप में निरूपण किया जा चुका है ।

नंदन मुनिवर की अंतिम आराधना :

नन्दन मुनि की कुल आयु पच्चीस लाख वर्ष की थी । उसमें से चौवीस लाख वर्ष तो गृहस्थाश्रम में ही व्यतीत हुए थे । एक लाख वर्ष बाकी रहे थे तो उन्होंने संयम ग्रहण किया था । इस प्रकार इस लाख वर्षके समय पर्यायमें अपने आत्म कल्याणकी भावनामें वे ऊपर बताए तरीके से पूर्ण सावधान रहे । इतना होते हुए भी यदि क्षयोपशम चरित्र हो तब तक अल्प प्रमाणमे भी मोहनीय का उदय होने से अतिक्रम-व्यतिक्रम तथा अतिचार का हो जाना सभव होता है और ये अतिक्रम-व्यतिक्रम तथा अतिचार की आलोचना तो उत्तम आत्माओं के जीवन में सदा होती ही है । फिर भी जब आयुके पूर्ण होने का समय आता है तो वे आराधक महानुभाव अंतिम आराधना के प्रसंगमे अपने सयमी जीवन में जाने या अनजाने कोई अतिचार लगा हो उसके लिये आलोचना तो अवश्य ही कर लेते है । कोई भी व्रत या नियम लेनेके बाद सूक्ष्म या स्थूल कोई दोष न लगे उसके लिये सजाग रहना यह तो जरूरी है ही फिर भी अनन्तकाल से आत्मामे घर किये हुए विषय, कषाय, प्रमाद आदि के

कारण अतिक्रम-व्यतिक्रम अतिचार आदि थोडे वहुत प्रमाणमे लगे विना नही रहते ।

परन्तु जैन शासन मे आलोचना—निन्दा—गर्हा—पश्चाताप प्रतिक्रमण आदि मगलमय क्रियाओ का जो प्रसाधन है, उस से लगे हुए ये अतिचार आदि आत्मा के शुद्धिकरण के लिये ही है । सातवें अप्रमत गुणस्थानक अथवा उनसे उपर के गुणस्थानकोमें रही आत्मा में इतनी प्रवल विशुद्धि होती है कि इस अवस्थामे अतिचार आदि के लगने की सभावना होती ही नही—अवकाश ही नही होता ।

परन्तु छठे प्रमत्त सयत गुण स्थानक तक तो सजग रहते हुए भी जाने अजाने में अतिचार आदिका लग जाना तो सभव होता ही है । इस लिये इस प्रमत गुण स्थानक की मर्यादा तक प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाए सदा करते रहना ऐसा विधान शास्त्रो में वताया गया है ।

अतिचार की आलोचना यह अभ्यंतर तप है

नन्दन मुनिवर हमेशा प्रतिक्रमण आदि आवश्यक की आराधनामें इसी कारण से सावधान थे । फिर भी आयु की सम्पूर्णता का जव समय आया तो अपने सयम जीवन के दौरान सतत उपयोगी प्रवृत्ति जागृति प्रतिक्रमण आदि आवश्यक प्रवृतियोमें सावधपन रखते हुए भी उन्होने विशिष्ठ कोटी की आलोचना करके अपनी आत्मा को उच्च कक्षा की आराधनामें जोडा । अपने सयमी जीवन में लगे हुए अतिचारो की वेशक हरहमेशा आलोचना की भी थी फिर भी उन अतिचारो को याद करते हुए सच्चे प्रायश्चित पश्चाताप पूर्वक जितनी आलोचना हो सकती थी की ऐसी आलोचना मे वह जितनी भी हो उस से अभ्यतर तप का प्रमाण वढता है और उससे सकाम

निर्जरा का सुन्दर लाभ प्राप्त होने के साथ नए अतिचार नही लगते, उसमे जागृति आ जाने के कारण आत्मा को सवर का भी काफी अधिक लाभ प्राप्त होता है। इस सकाम निर्जरा और सवर के परिणाम स्वरूप आत्मा घाती कर्म का क्षय कर "अइमता" मुनिवर की तरह केवल ज्ञान—केवल दर्शन को भी थोडे ही समयमे प्राप्त करनेमें भाग्यशाली बन जाती है। अतिचार न लगे यह सर्वोत्तम है परन्तु अतिचार आदि लगने के बाद हृदय से भावना पूर्वक उन की आलोचना कर लेनी यह तो उस से भी उत्तम है।

पंचाचार का परिपालन ही धर्म है :

प्रभु के शासनमें श्रावक धर्म-व साधुधर्म-प्रधान रूपसे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार, वीर्याचार इस प्रकार के पाच आचारो में विभक्त किया गया है। श्रावक धर्म में इन आचारो की एक मर्यादा होती है, जब की साधु धर्म में ये पाचो आचारो की सम्पूर्णता होती है। वास्तविक रूपसे यदि देखा जाय तो जहा जहां इन पाचो आचारो का यथोचित परिपालन होता है वही धर्म होता है और जहा इन आचारो का पालन नही अथवा आदर नहीं वहा धर्मका अभाव होता है।

नन्दन मुनि तो निग्रथ अणगार थे, पाच आचारो का परिपालन यह तो उनका भाव प्राण-अथवा अतरग मूल धर्म था। इस लिये वे इन पाचो आचारो के पालन में सदा उद्यमवत थे। फिर भी यदि इन आचारो के प्रतिपालन में कोइ अतिचार लगा भी हो तो उस के लिये पश्चाताप, निदा-गर्हा करने से उन लगे हुए अतिचारो की आलोचना क प्रसग में जो अतिम आराधना उन्हो ने की वह अपने जैसे बालजीवो के लिये बहुत मननीय होने के कारण उसका सक्षेप में वर्णन यहा किया गया है।

नन्दन मुनि की इस अन्तिम आरावना का सविस्तार वर्णन कलिकाल सर्वज्ञ भगवत श्री हेमचन्द्राचार्य महाराजने "त्रिपष्टि शलोका पुरुप चरित्र के दशमे पुर्व मे सविस्तार से किया है। आज के काल में कितने ही सुविहित सावु इस आरावना का नित्य स्वाध्याय करते है। मेरे परम तारक दादा गुरु शासन प्रभावक-गीतार्थ प्रवर शुद्ध प्ररुपक आचार्य देव श्री विजय मोहन सूरीश्वरजी महाराज भी ईस नन्दन मुनि की आरावना के श्लोको का निरतर स्वाध्याय करते थे। और अपने स्वर्गवास के निकट के समय में अपने पास के सावुओ से इस अतिम आरावना को सुनने की सदा माग करते थे।

ज्ञानाचार-दर्शनाचार-चरित्राचार की आलोचना

जिन आगम आदि सम्यक्श्रुत (शास्त्र ग्रन्थो) का अभ्यास करते हुए ईस प्रसग में काल—विनय—बहुमान-आदि आठ आचारो के पालन में, सम्यग् दर्शन की प्राप्ति, सम्यग् दर्शन की स्थिरता तथा सम्यग् दर्शनकी निर्मलता को प्राप्त करने मे, निशकित पने से, काक्षा रहित पने से आदि आठ प्रकार के दर्शन के आचारोका परिपालन करने में मेरे से-मन वचन-काया द्वारा जाने अनजाने में कोई अतिचार आदि लगा हो उस का मैं त्रिविव रुप से वार वार पश्चाताप करता हूँ। ईन अतिचारो की मैं निन्दा-गर्हा करता हूँ और वार वार मैं उसके लिये "मिच्छामि दुक्कड" देता हूँ।

पच महाव्रत-तथा छट्ठा रात्रि भोजन विरमण व्रत यह चरित्र है। पंच समिति-तथा तीन गुप्ति यह अष्ट प्रवचन माता का जितना विशिष्ट पालन होता है उतनी ही चरित्र में निर्मलता आती है। ईसी लिये चरित्र के आठो आचारो में ईन आठ प्रवचन माता को स्थान दिया गया है। इन "अष्ट प्रवचन माता" के परि-पालन में तथा परिणाम स्वरुप पच महाव्रत तथा छट्ठे रात्रि भोजन

विरमण व्रत के परिपालन में मन-वचन-काया मे यदि कोइ अतिचार दोष लगा हो उस का मैं वार वार पश्चाताप करता हूँ। आत्मा को साक्षी रख कर ईन लगे हुए दोषो की निंदा करता हू । गुरु की साक्षी कर इन दोषो की गर्हा करता हूँ। और इन दोषो के लिये वार वार मिच्छामि दुक्कड करता हूँ।

पच महाव्रतो का पालन यह द्रव्य चरित्र अथवा भाव चरित्र है, तथा क्षमा-मृदुता-सरलता आदि दस प्रकार का यति धर्म है। यह भाव चरित्र अथवा निश्चय चरित्र कहलाता है। व्यवहार चरित्र में लगे हुए अतिचारो की आलोचना जिस प्रकार आवश्यक है उसी प्रकार भाव चरित्र अथवा निश्चय चरित्र की आलोचना भी अति आवश्यक है । इस लिये नन्दन मुनिवर निश्चय चरित्र की भी आलोचना के प्रसग में ईस प्रकार आलोचना करते हैं।

"मेरे सयमी जीवन में क्रोध--मान--माया--लोभ-राग-द्वेष-कलह अभ्याख्यान-पैशुन्य (चुगली चाटी) दूसरो का अवर्ण वाद आदि पाप स्थानकोका जानते-अजानते-मन-वचन-काया से सेवन होने से भाव चरित्र में यदि कोइ अतिचार लगा हो तो उस को मैं वार वार निन्दा-गर्हा करने के साथ मिच्छामि दुक्कड देता हूँ।"

तपाचार- वीर्यांचार की आलोचना

इस प्रकार से ज्ञानाचार-दर्शनाचार और चरित्राचार की आलोचना करने के वाद नन्दन मुनिवर तपाचार और वीर्याचार की आलोचना करके अपनी आत्मा को विशुद्ध वनाते है । अनशन उणोदरी आदि ६ प्रकारका वाह्य तप तथा प्रायश्चित-विनय-वैयावृत्य आदि ६ प्रकारका अभ्यंतर तप करने के लिये अनुकूलता होते हुए भी इन दो प्रकार के तपकी आचरणा से मैं वचित रहा, इसके वाद तपकी

आचरणाके प्रसग मे जिस प्रकार आचरण करना चाहिये उस प्रकार से मैने आचरण नही किया आदि कारणो से मुझे यदि तपाचारमें यदि कोई अतिचार लगा हो तो मैं उसका वार वार मिच्छामि दुक्कड देता हूँ। इसी प्रकारसे धर्मानुष्ठान के विषय मे जिस प्रकार वीर्योल्लास होना चाहिये, वैसे वीर्योल्लासमें यदि कोई कमी रह गई हो तो उसका भी त्रिकरण योग से वार वार मिच्छामि दुक्कड देता हूँ।"

सर्व जीवों से क्षमायाचना

"मेरे वर्तमान जीवन मे तथा आज तक के हुए भवों में नारकी तिर्यच मनुष्य तथा देवो मे से यदि मैंनें किसीका भी हनन किया हो, कष्ट पहुचाया हो, या किसी भी प्रकारका दुख जाने-अनजाने में दिया हो अथवा किसी भी जीव के साथ मनोयोग-वचनयोग तथा काययोग से मैंने वैर विरोध किया हो या हुआ हो तो मैं उन सव से क्षमा मागता हूँ। इस के वाद मे मुझे किसी जीव से वैर विरोध नही है और विश्व के सभी जीवो के प्रति मेरा मैत्री भाव है"

अनित्य-अशरण आदि वारह भावनाओ का चिन्तन मनन :

शरीर के साथ अन्य सव "पौद्गलिक" भावोका सम्वन्ध अनित्य सयोगी है क्षणिक है। वर्तमान जीवनमे तथा आज तक के ससार चक्र के परिभ्रमण के दौरान भुतकाल मे घटित मेरे अनत भवोमे इन पौद्गलिक भावो के विषय मे अज्ञान भावना के कारण मेरी अन्तर आत्मा में जो मोह माया ममता का अभी तक यदी सेवन हुआ हो तथा वर्तमान साधु जीवन मे शरीर उपधि के कारण यदि कोई अप्रशस्त ममता हुई हो तो उन सव को अनित्य भावना, अशरण भावना, एकत्व भावना, अन्यत्व भावना, अशुचि भावना आदि १२ भावनाओके स्वरुपका चितन मनन निदिध्यासन करने पूर्वक मै त्रिकरण योग से त्याग करता हू।

अरिहंत आदि चार शरण को स्वीकारना :

"अरिहत भगवान की मुझे शरण मिले, सिद्ध परमात्मा की मुझे शरण मिले, साधु भगवत की भवोभव तक मुझे शरण मिले, और वीतराग प्रणीत प्रमुशासन का भव–परभव–तथा भवोभव तक मुझे शरण प्राप्त हो। जिन शासन अथवा जैनधर्म यह मेरी माता समान है।

कचन कामिनी के त्यागी, जिनाज्ञा पालक, महाव्रतधारी आचार्य–उपाध्याय आदि पदस्थ गुरुभगवान ही मेरे पिता हैं। साधु भगवन्त मेरे बधु है और मेरे सार्धमिक ही मेरे सच्चे मित्र है इस के सिवाय सारा ससार एक मोह माया जजाल है।

अरिहंत आदि पच परमेष्ठि को नमस्कार :

"इस भरत क्षेत्र मे वर्तमान अवसर्पिणी के दरम्यान आज तक हुए भगवान ऋषभदेव आदि सभी तीर्थंकर भगवन्तो को मैं त्रिकरणयोग से प्रणाम करता हूँ।

इस के उपरान्त दूसरे–चार भरत क्षेत्र के–पाच ऐरावत क्षेत्र के, पाच महाविदेह क्षेत्रके सभी तीर्थंकर भगवन्तो को मैं भावपूर्ण वन्दना और नमस्कार करता हूँ।" तीनो काल के सर्वक्षेत्रो के अरिहतो को किया हुआ यह नमस्कार भव्यात्माओ के लिये परपरागत ससार चक्र के विनाश का कारण होता है यह अरिहत भगवन्तो को भावना पूर्वक किया जाने वाला नमस्कार–इस भव में जीवोको बोधिलाभ प्रबल निमित्त रूप बनता है।

"जिन भव्य आत्माओ ने धर्मध्यान और शुकल ध्यान की प्रचड अग्नि द्वारा सर्व कर्म क्षय किया है ऐसे सिद्ध भगवन्तो को मैं नमस्कार करता हू। और मैं अपनी आत्मा को शीघ्र से सिद्धपद की

प्राप्ति हो ऐसी भावना धारण करता हू।" "ससार का विच्छेद होने में असाधारण आलबन भूत ऐसे जैन शासन के जो आधार स्तम्भ है ऐसे आचार्य भगवत तथा ज्ञानाचारादि–पचाचार को भी मै बार बार भावपूर्वक वन्दन करता हू।"

"जो महापुरुष द्वादशांगी रूप श्रुत के पारगत है और शिष्य परिशिष्य आदि साधु समुदाय आदि को धर्मप्रवचन आदि द्वारा बोध निमित्त है ऐसे सभी उपाध्याय भगवत को मैं अपनी अमर आत्मा से भावनापूर्वक वन्दना व नमस्कार करता हू।"

"जो-शील-सयम के साक्षात् मूर्तिमान पुज के समान है अपने शील और सयम के द्वारा लाखो भवो के सचित हुए कर्मो का क्षय करने मे जो सदा परायण रहते है तथा अपने पास आने वाले सभी भव्यात्माओ को मोक्ष मार्ग की आराधना मे हरहमेशा सहायक रूप बनते है ऐमे सर्व साधुओ को मै बारबार वन्दना करता हू"

चारो प्रकार के आहार का त्याग और अनशन स्वीकार :

"मै सब प्रकार के सावद्य (पापके) व्यापारो को त्रिविध रूप से त्याग करता हू उसी प्रकार अभ्यन्तर उपधि का भी जीवन पर्यन्त त्रिविध रुप से त्याग करता हू। अशन-पान-खादिम-स्वादिम इस चार प्रकारके आहार का भी जीवन पर्यत त्याग करता हूँ और अपनी अतिम श्वास तक के लिये इस देह को भी त्याग करता हू।"

नन्दन मुनिने ऊपर कहे रूप से (१) दुष्कर्म की निन्दा-गर्हा पश्चाताप (२) सब जीवो से क्षमा याचन (३) अनित्य आदि बारह भावना के स्वरूप का चितन–मनन (४) अरिहत आदि चारो की शरण स्वीकार (५) अरिहत आदि पच परमेष्ठि को नमस्कार, (६) चारो प्रकार के आहार का सर्वसावद्य व्यापार-उपधि शरीर का सर्वदा त्याग, इस प्रकार से ६ रूप में अतिम आराधना की और

अन्त में अपने धर्माचार्य तथा साधुसमुदाय के साथ क्षमापना के साथ दो महीने का उपवास करके कालधर्म प्राप्त किया और वैमानिक निकाय के बारह देव लोगो में से दशमे प्राणत नाम के देवलोक मे पुरुपोत्तमरावतसग नामक विमान मे महर्द्धिक देव रूप में उत्पन्न हुए ।

देवलोक में देव की उत्पति की व्यवस्था :

देवलोक के विमानो मे देव देवियो की उत्पत्ति के लिये उपपात शैया होती है। कोई भी देवलोक में उत्पन्न होने वाली आत्मा मनुष्य अथवा पचेद्रिय तिर्यच की आयुष्य पूर्ण कर अपने बधे हुए देव गति या देवायुष्य के प्रमाण से उसी देवलोक में जब जन्म लेती है तो इसी उपपात शैया में उसका जन्म होता है। उत्पत्ति के प्रथम क्षण मे इस उपपात शैया में रहते वैक्रिय श्रेणी के मनोज्ञ पुद्गलो को ग्रहण कर अत मुहूर्त में नवजवान की सी दिव्य काया तैयार हो जाती है। इस के बाद वह उपपात शैया के वस्त्र को दूर कर खुद ही अपने दिव्य आसन पर विराजमान हो जाती है। इस प्रसग में वहा आगे के देवगण-उत्पन्न होने वाले देव की जयजयकार करते है और इस के बाद वह देव देवलोक के दिव्य सुखो का भोग करता है चिरकाल तक।

देवों के जीवन में भी धर्म व्यवहार .

प्राणत नाम के दसवें देवलोक में उत्पन्न हुए नन्दन महामुनि की आत्मा तो भावीकाल मे भरत क्षेत्र का चौवीसवा तीर्यंकर भगवान महावीर प्रभु की आत्मा थी। यह देव का भव पूर्ण होने वाद अनतरपन में अब वह आत्मा मनुष्य भव में तीर्यंकर पद के ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाली थी।

देव भव मे उत्पन्न होने से पूर्व मनुष्यादिक भव में इस आत्माने सम्यग् दर्शन--ज्ञान-चरित्र आदि की यदि आराधना की हो तो यह आत्मा देव भवमे जब देव रुप मे उत्पन्न होती है तो उस देव का जीवन--व्यवहार देव भवके योग्य शुद्ध धर्म का व्यवहार के साथ जुडा रहता है। और यह आत्मा द्रव्य धर्म के प्रभाव से उपार्जन किये हुए द्रव्य पुण्य के कारण से देवलोक मे उत्पन्न होती है। उस के देवलोक में उत्पन्न होने के बाद उसका जीवन व्यवहार प्राय. शुद्ध धर्म से पूर्ण होता है।

देवलोक में उत्पत्ति के बाद अवधिज्ञान का उपयोग और पूर्वजन्म का ज्ञान :

नन्दन महामुनि की आत्मा तो द्रव्य--भाव दोनो ही प्रकार से रत्नत्रयी की विशिष्ट आराधक आत्मा थी। इसके अतर में तीर्थंकर नाम कर्म की सत्ता विद्यमान थी। ऐसे सजोगो मे उचित देवलोक में उत्पन्न होने के बाद उसका जीवन देवलोक मे भी उचित वीतराग प्रभु के धर्म से ओतप्रोत था, इस मे शका नही। नन्दन मुनिवर की आत्मा के देवलोक मे उत्पन्न होने के बाद अन्तर्मुहूर्त में जब दिव्य शरीर प्राप्त कर उपपात शैयासे उठ कर बैठी और आजू बाजू के देवताओं ने जयजयकार किया तब इस आत्मा ने आश्चर्य से कहा .

"यह क्या है ? मै कहा हूँ--यहा इस देवलोकमें मै कैसे आया ?" आदि आदि विचारो को सोचकर अवधिज्ञान से अपने पूर्व जन्म को पूरी तरह जान जाते है। तब उन्हे खयाल आता है कि पूर्व भवमें किये हुए तप सयम की आराधना द्वारा प्रासगिक बधे--पुण्यानुबधी पुण्य के कारण देवलोक में मेरा अवतार हुआ है।

इस दिव्य सिद्धि की प्राप्ति मे अरिहत भगवान के शासनकी गत जन्म में की गई आराधना यही मुख्य कारण है। ऐसा वे अपने

अतरआत्मा मे विचारते है । इसी बीच वहा एकत्र हुए दूसरे देवता दोनो हाथ जोड कर उस देवात्मा को "आपकी जय हो—आपकी जय हो" आदि मगलमय उच्चारण करते हैं तथा "आप हमारे स्वामी हैं—हम आपके सेवक है इस विमानके आप अधिपति है, आपकी आज्ञाका पालन करनेमे हर हमेशा तैयार रहने वाले हम आपके परिचारक देव है, इस तरफ दिव्य सुखो को भोगने के लिये सुन्दर उपवन है, ईस तरफ स्नानके लिये निर्मल जल से भरी वावडिया (कूप) है । इस तरफ आत्माके कल्याण के लिये अरिहत परमात्मा की पूजा भक्तिका लाभ देने वाला सिध्धायतन अर्थात शाश्वत जिन चैत्य है । यह स्नान गृह है, यहा अलकार गृह है" इस प्रकार वहा एकत्रित देवो द्वारा कथन सुनकर नदन मुनिवर को आत्मा स्नान गृह में जाती है । स्नान करने योग्य ऐसे पादपीठ सहित सिहासन के उपर बैठती है और दूसरे देवता निर्मल जलसे भरे वडो द्वारा उस आत्माका अभिषेक करने समान—स्नान करवाते है । इस के उपरान्त अलकार सभा में जाकर दिव्य वस्त्र-आभूषण-अलकार धारण करते है । इसके वाद व्यवसाय सभामे जाकर देव के आचरणो—आचारोको वताने वाले ग्रथका वाचन करते हैं और फिर पुष्पादिक की दिव्य सामग्री लेकर सिद्धायतन जिन चैत्यमे जाकर अपने नन्दन मुनिकी आत्मा त्रिकरण योग से भक्ति करती है । इस प्रकार अरिहत की भक्ति करते हुए यह आत्मा सुधर्म सभामें योग सिहासन पर विराजमान हो—दिव्य सगीतका श्रवण तथा दूसरे देवताओ योग्य सुखोंसे अनासक्त रह कर अपने देवायुष्यका समय आनन्द मे पसार करती है ।

मनुष्य क्षेत्र में—पन्द्रह कर्म भूमि में जव जव तीर्थंकर भगवतो का जन्म—दीक्षा—आदि कल्याणक होने का प्रसग होता है, तव यह देवात्मा वहा जाती है, तथा इन्द्रादि देवो के साथ अरिहत परमात्मा

की त्रिकरण योगसे भक्ति करने के द्वारा सम्यग दर्शन को निर्मल करने के साथ सत्तामे आए तीर्थंकर नाम कर्म की पुष्टि करती है ।

देवलोक में आयुष्य की समाप्ति और च्यवन :

इस प्रकार से एक ओर से देवलोक के योग्य अरिहतादि की अपूर्व भक्ति की प्रवृत्तिमे तथा दूसरी तरफ निरासक्त भावसे देव सुखोको भोगते हुए यह आत्मा वीस सागरोपम की आयुष्य पूर्ण करनेका अन्त पाने लगी वाकी के देवताओ की आयुष्य पूर्तिके जव ६ माह वाकी रह जाते है तव देवताई शरीरकी दिव्य कान्ति ाादवम पडने लगती है, गले में पडी पुष्पमाला भी धीरे धीरे मुरझाने लगती है । मिथ्यात्वी देवो की आत्मा ताे देव सुखो को छोडकर मनुष्यादि भव मे उत्पन्न होने का समय नजदीक देख कर आर्तध्यान की परपरा अधिक प्रमाण में शुरु हो जाती है ।

परन्तु भगवान महावीर की आत्मा ताे निर्मल समकित वंत भी और आने वाले भवमे (मनुष्य भवमें) तीर्थंकर रूप से अवतार लेन वाली थी और उसमें पुण्य प्रकृतिके कारण देवायुष्य की पूर्णाहुति, अतिम क्षण तक उसके शरीरकी दिव्य कान्ति आदि वैसे की वैसी ही रही और सम्यग् दृष्टि होनेके कारण अवस्थाके लायक उस धर्म-ध्यान की परपरा चालू ही रहती है । इसी परिस्थिति मे उनकी देवायुष्य पूर्ण हो गई । और इस प्रकार श्रमण भगवान महावीरकी आत्मा देवलोकसे च्यवन कर भरतक्षेत्रके व्राह्मण कुड नामके नगरमें ऋषभदत्त व्राह्मण की पत्नी देवानन्दा माता की कोखमें आषाढ सुदि ६ की मध्य रात्रि मे गर्भ रूप मे उत्पन्न होती है ।

यहा नयसार के भव से २६ भव तक का श्रमण भगवान महा-वीर प्रभु का जीवन सम्पूर्ण होता है ।

परिशिष्ट

श्रमण भगवान महावीर के पांच कल्याणक

१ च्यवन कल्याणक	आषाढ सुदि ६	ब्राह्मण कुड-ग्राम नगर
२ जन्म	चैत्र सुदि १३	क्षत्रिय कुड-ग्राम नगर
३ दीक्षा	कार्तिक वदि १०	क्षत्रिय कुड-ग्राम नगर
४ केवल ज्ञान	वैशाख सुदि १०	ऋजुवालुका नदी के किनारे शालवृक्ष
५ निर्वाण	आसो वदि ०))	पावापुरी

श्रमण भगवान महावीर के २७ भव

(१) नयसार ग्राम मुखिया (२) सौधर्म देवलोकमें देव (३) मरीचि राजकुमार (४) पाचवे ब्रह्मलोक में देव (५) कौशिक ब्राह्मण (६) पुष्यमित्र ब्राह्मण (७) सौधर्म देवलोक में देव (८) अग्निद्योत ब्राह्मण (९) ईशान देवलोक मे देव (१०) अग्निभूति ब्राह्मण (११) सनत्कुमार देवलोक मे देव (१२) भारद्वाज ब्राह्मण (१३) महेन्द्र देवलोक में देव (१४) स्थावर ब्राह्मण (१५) ब्रह्मदेवलोक में देव (१६) विश्वभूति राजकुमार सयम आराधना—तथा नियाणा—(१७) शुक्र देवलोक में देव (१८) त्रिपृष्ठ वासुदेव (१९) सातवा नरक (२०) सिह (२१) चौथा नरक (२२) मनुष्य भव सयम ग्रहण (२३) प्रियमित्र चक्रवर्ती-चरित्र ग्रहण (२४) महाशुक्र देवलोक में देव (२५) नदन चरित्र ग्रहण और तीर्थकर नाम कर्म बध (२६) प्राणत नामक देव-लोक में (२७) श्रमण भगवान महावीर ।

भगवान महावीर का सांसारिक कुटुम्ब—परिवार

माता— देवानन्दा—त्रिशला (विदेह दिन्ना)।
पिता— ऋषभदत्त तथा सिद्धार्थ (श्रेयास)।
वडे भाई— नन्दिवर्धन ।
वहन—. सुदर्शना ।
पत्नी— यशोदा ।
पुत्री— प्रियदर्शना ।
दौहित्री— शेषवती ।
चाचा— सुपार्श्व ।
जमाई— जमाली ।

भगवान महावीरके साढ़े बारह वर्षके छद्मस्थ कालकी उग्र तपस्या

तपका नाम	कितनी बार	दिन[1] संख्या	पारणा
छ मासी	१	१८०	१
पाच महीना उपर पच्चीस दिन	१	१७५	१
चौमासी (मासिक)	९	१०८०	९
त्रणमासी („)	२	१८०	२
अढीमासी („)	२	१५०	२
दोमासी („)	६	३६०	६
डेढ मासिक	२	८०	२
मास क्षमण (एक महीना)	१२	३६०	१२
मास क्षमण (पाक्षिक)	७२	१०८०	९२
प्रतिमा बद्धमतप	१२	३६	१२
छट्ठ तप	२२८	४५९	२२९[2]
भद्र प्रतिमा	१	२	१
महाभद्र प्रतिमा	१	४	१
सर्व तो भद्र प्रतिमा	१	१०	१
कुल योग	३५१	४१६५	३५०

(१) इस यत्र में दिनो की सख्या १ महीने का तीस दिन के हिसाव से गिनी जाती है।

(२) छट्ट २२९ दिन और पारणा दिन २२८—इस प्रकार से पारणें में एक दिन कम होने का कारण यह है कि केवल ज्ञान कल्याण का अवसर छट्ट छद्मावस्थ काल में जाती है। जब कि उस का पारणा का दिन केवली पर्याय में जाता है इस प्रकार एक दिन कम हो जाता है।

श्रमण भगवान महावीर प्रभुका परिवार :

१ इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर,
२ इन्द्रभूति आदि चौदह हजार साधूगण,
३ चन्दनवाला आदि ३६ हजार साध्वीगण,
४ शख शतक आदि एक लाख ५९ हजार श्रावक
५ सुलसा—रेवती आदि तीन लाख अठारह हजार श्राविकाए
६. साढे तीन सौ चौद पूर्वधर साधु
७ तेरह सौ अवधिज्ञानी साधु
८. सात सौ केवल ज्ञानी साधु—
९ चौदह सौ केवलज्ञानी साध्विया,
१० सातसौ वैक्रिय लब्धिकारी साधुगण
११ पाचसौ विपुल मति मन पर्यवज्ञानी साधु
१२ चारसौ वादलब्धि मे निपुणवादी साधु
१३ सातसौ उसी भव मे मुक्तिगामी साधू
१४ चौदहसौ उसी भव में मुक्तिगामी साध्विया
१५ आठसौ अनुत्तर विमान में एकावतारी रूप से उत्पन्न होने वाले साधु

श्रमण भगवान महावीर के उपासक :

१ राजगृह का राजा श्रेणिक (दूसरा नाम भभिसार अथवा विम्बिसार)

२ चम्पानगरी का राजा अशोकचन्द (कोणिक)

३ वैशाली का राजा चेटक

४ काशी देश के नव मल्लकी जाति के गणतत्र के राजपुरुष

५ कौशल देश के नव लच्छवी जाति के गणतत्र राजवी

६ अमलकप्पी नगरी का श्वेतराज

७ वीतभय पतन का राजा उदायिन

८ कौशाम्बी का शतानीक राजा और उदायनवत्स

९ क्षत्रिय कुड का नन्दीवर्धन राजा,

१० उज्जयिनी का राजा चडप्रद्योत्,

११ हिमालय पर्वत पर उतर भाग में पृष्ट चपा के-शाल-महाशाल

१२ पोलासपुर का विजय राजा,

१३ पोतनपुर का प्रसन्न चद्र राजा,

१४ हात्तिशीर्ष नगर का अदीन शत्रु राजा।

१५ ऋषभपुर का धनावह राजा,

१६ वीरपुर नगर का वीरकृष्ण मित्र राजा,

१७ विजयपुर का वासवदत्त राजा।

१८ सौगधिक नगरका अप्रतिहत राजा।

१९ कनकपुर का प्रियचद्र राजा।

२० महापुर का वलराजा।

२१ चपा नगरी का दतराजा

२२ साकेतपुर का मित्रनदी राजा। ।

इस प्रकार—दूसरे भी कितने ही राजा महाराजा--मत्रीवर—करोडाधिपति-लक्षाधिपति-सण्यावद श्रीमत भगवान महावीर के परम उपासक थे।

श्रमण-भगवान महावीर के चतुर्मास :

१	चौमासा	अस्थिक ग्राम में
३	चतुर्मास	चंपा और पृष्ट चंपामें
१२	,,	वैशाली और वाणिज्य ग्राम
१४	,,	राजगृह नगर के नालंदा पाडे में
६	,,	मिथिला नगरी में
२	,,	भद्रिका नगरी में
१	,,	आलभिका में
१	,,	श्रावस्ती मे
१	,,	अनार्य भूमि में
१	,,	पावापुरी में
४२		

॥ श्री महावीर स्वामिको नमः ॥

श्रमण भगवान महावीर की उपदेश धारा में से सचित कुछ

अमृत बिन्दु

(संकलनकार– पूज्य आचार्य श्री विजय धर्मसूरिश्वरजी महाराज)

१ आत्मा अनादि है तथा अनत है, आत्मा की अपनी उत्पति नही होती, मरण भी नही है। आत्मा तीनो काल में शाश्वत है अमर है।

२ ऐसी आत्माए विश्व मे एक नही अनतानत है। प्रत्येक आत्मा का मौलिक स्वरूप एक जैसा है।

३ प्रत्येक आत्मा के मूल स्वरूप मे अनत ज्ञान-अनत दर्शन-अनत चरित्र और अनत वीर्य के गुण विद्यमान रहते है।

४ आत्मा जिस प्रकार अनादि है उसी प्रकार उस आत्मा का ससार भी अनादि है और ससार का कारण भूत कर्म का सजोग भी अनादि है।

५ "अमुक कर्म–अमक समय में बध होता है" यह एक सत्य है। परन्तु, सब मे पहले यह कर्म आत्मा को कब बधा इस प्रश्न के जवाब में प्रवाह की अपेक्षा से—आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध अनादि है।

६ कर्म का बध करना, बधे कर्म का फल भोगना, और इन कर्मफलो के भोगने के लिये चौरासी लाख जीव योनियो में वारवार परिभ्रमण करना, तत्व की दष्टि मे यह आत्मा का स्वभाव नही है, परन्तु विश्व के सभी भावो को जानना और अपने स्वरूप में ही रहना यह आत्मा का मूल स्वभाव है।

७ पानी के जल प्रवाह पर ही रहना, तले में नही जाना जैसे यह तूवडी (तोमड) का स्वभाव है। उसी प्रकार विश्व के अग्रभाग सिद्ध शिलापर रहना, और अपने अनत स्वरूप—अनत सुख अनतकाल तक भोगना यही आत्मा का यथार्थ स्वरूप है ।

८ तैरने के स्वभाव वाली तूवडी में—छिद हो जाए—उस मे मिट्टी भर जाय या पानी भर जाय तो वह पानी के तले मे जाकर बैठ जाती है, उसी प्रकार आत्मा में अनादि काल से अठारह पाप के छिद्र होने से आत्मा रूपी तूवडी मे पाप रूपी मिट्टी भर जाती है और इस कारण से आत्मा ससार सागर में डूव कर अनत काल तक लुढकती रहती है ।

९ नौका आदि छोटे वडे वाहनो का स्वभाव पानी के तल पर तैरने का है । तथा साथ साथ तैरते रहने और किनारे पहुचाने का है, परन्तु डूवने का नही है इतना होते हुए भी नौका या वाहन में यदि छिद्र विद्यमान हो तो इस छिद्र द्वारा इस वाहन मे पानी भर जाए और इस प्रकार पानी के तल पर तैरने की वजाय, उसी प्रकार किनारे पर ले जाने के वदले यह वाहन पानी के तल में डूव जाता है ।

१० इस आत्मा मे हिंसा-असत्य-चोरी आदि अनेक पाप के छिद्र जव तक विद्यमान है तव तक इन पाप के छिद्रो द्वारा प्रतिक्षण आत्मा में कर्म रूपी जल भरता रहता है और दूसरे किनारे पहुचने के स्थान पर यह आत्मा रूपी नैया ससार सागर मे डूवकी मारती रहती है ।

११. स्थूल दृष्टि से ससार में चाहे जितने भी सुख दृष्टि गोचर होते हो परन्तु तत्व की दृष्टि से वे सुख नही है । दूसरो से मागी भीख रूप अथवा दूसरो की कमाई दौलत पर "तागडधिन्ना" (नाचना) वैसा ही यह सुख है ।

१२ जब तक जन्म-जरा मरण का भय माथे पर नाच रहा हो, आधि-व्याधि-उपाधि से जीवन भरपूर हो तथा रोग-शोक-सताप आदि दुखो के बादल हर हमेश माथे पर मडरा रहे हो—ऐसे ससार मे सुख की आशा रखना व्यर्थ है।

१३ जितना भी भोजन-पान आदि किया जाय, फिर भी अमुक समयके बाद फिरसे भूख-प्यास की वेदना हाजिर हो ही जाती है, तो फिर ऐसे भोजन या पान सुख की कोई कीमत नही है।

१४. भले कितनी सपत्तिका अतूट भडार विद्यमान हो, फिर भी-आशा-तृष्णा तथा असतोषकी अकुलाहट जीवनमें निरतर चालू ही रहती है—तो ऐसे सम्पति सुख की कोई गिनती नही है।

१५ सात मजिल-अथवा सत्तर मजिल के उपर के भागमें-सोने के झूले मे झूलना भी मिले-फिर भी एक क्षण के लिये इसे छोडकर निचले भाग में जाना पडे (अजाणी-लघुशका-बृहत् शका आदि के लिये) तो इस हवेली अथवा झूलेका क्या फायदा ?

१६. कितना भी समय लग जाए-व्यतीत हो जाए परन्तु न भूख लगे और न ही प्यास लगे—तभी सच्चा सुख मानना चाहिये।

१७. जहा शरीर और इन्द्रियो को स्थिर रूप न प्राप्त हो, (स्थिरता न मिले) और "पुनरपि जनन—पुनरपि मरण" का यह सिद्धांत पूर्णतया अत प्राप्त करले-वही सच्चा सुख होता है।

१८. सोनेकी जजीर, मोती की माला, हीरोका हार, चाहे न मिले हो, सात या सत्तर मजिल का घर व सोनें का झूला प्राप्त न हो, परन्तु आत्मा को अपना आत्मज्ञान, दर्शन, चरित्रका अक्षय खजाना विद्यमान हो प्राप्त हुआ हो वही सच्चा सुख है।

१९ राजा-महाराजा-चक्रवर्ती अथवा इन्द्र आदि अपनी प्रजा पर कितना भी आधिपत्य व अधिकार भोग करते हो परन्तु जब तक

उनके अपने माथे पर कर्म सत्ताका साम्राज्य अथवा कर्मकी तलवार लगी है तब तक वह सच्चा सुख भोग नही है ।

२० जहा किसी की परतन्त्रता-गुलामी-पराधीनता अथवा तावेदारी नही है ऐसी सिद्ध अवस्था का सुख ही सच्चा सुख है इसीका नाम मोक्ष है, यही परम-आनन्दका अक्षय धाम है ।

२१. सब प्रकार के कर्मो का बध-उदय-और-सतामे से सर्वथा अभाव हो जाय तभी आत्मा को अपने स्वरूप का अक्षय मुक्ति सुख प्राप्त होता है ।

२२ सर्व प्रकार के कर्मो का सर्वथा अभावहो जाए और मुक्ति सुख की प्राप्ति हो इस के लिये हिसा-असत्य आदि अठारह पाप स्थानको की मन-वाणी-काया द्वारा सम्पूर्ण पने से तिलाजलि देनी चाहिये ।

२३ हमे जिस प्रकार अपना शरीर अपना जीवन प्यारा है, उसी प्रकार ससार मे सभी जीवो को अपना अपना जीवन प्यारा है, इस प्रकार समझ कर प्राणी मात्रको अभयदान देनेके लिये प्रयत्नशील बनना चाहिये और प्राणातिपात (हिसा)के पाप से दूर रहना चाहिये ।

२४ ससारमें सत्य जैसी दूसरी कोई पवित्रता नही है, और असत्य जैसो अपवित्रता नही है, । जातिकी अपेक्षासे भले ही चडाल हो, परन्तु उसके जीवन में यदि सदा ही सत्य को स्थान हो तो असत्य बोलने वाले ब्राह्मण की अपेक्षा वह चडाल पवित्र है, ऐसा ख्याल रख कर छोटे बडे किसी भी प्रसगमे मृषावाद—असत्य वचन नही बोला जाय उसके लियें हर हमेश सावधान रहना चाहिये ।

२५ जिस वस्तु पर अपना अधिकार नही—ऐसी दूसरो की छोटी मोटी वस्तु मालिक की सम्मति के विना लेना इसका नाम चोरी कहलाता है । अथवा जिसमे अपना चित्त चुराया गया-वह भी चोरी है । यह चोरी की प्रवृत्ति-चित्तको सदा ही शकाशील और भय

से व्याकुल रखती है और आत्मा को अधोगति में पहुचाती है इस लिये चोरी के पाप से सदा दूर ही रहना चाहिये ।

२६ विषय वासना-थोडी हो या बहुत, यह विष से भी अधिक भयकर होती है। यदि यह विष शरीर मे फैले तभी व्यक्ति प्राण को नुकसान पहुचाता है । जब वासना का स्मरण भी होता है तो भी आत्मा को बहुत अहित मिलता है । इस लिये परब्रह्म के प्रधान कारण रूप त्रिकरण योगसे ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिये सदा तत्पर रहना चाहिये और चतुर्थ-मैथुन नामके पाप स्थानक से निरतर बचना चाहिये ।

२७ एक ही पिता के दो पुत्रो में वैमनस्य प्रकट करने वाला तथा असत्य-अनीति आदि उन्मार्गकी परपरा को पोषण देने वाला नव प्रकार के परिग्रह की ममता होती है । इसी परिग्रह की ममता ने—आत्माकी ज्ञान दर्शन चरित्र की सम्पति को लूटा है समाप्त किया है । इस लिये नव प्रकार के परिग्रह की ममता के पाश में से आत्मा को दूर रखने के लिये सर्वथा जागृत रहना चाहिये ।

२८ तन्दुरस्त अथवा बलवान शरीर में एक ही घटे के लिये यदि एक डिगरी भी बुखार आ जाए तो इस शारीरिक बल को कितनी हानि पहुचती है, उसी प्रकार से थोडे समय के लिये भी आया हुआ क्रोध आत्मा के ज्ञान—दर्शन—चरित्र बल को नुकशान पहुचाता है । अग्निका एक छोटा सा कण--भी विशाल जगल को जलाकर भस्मीभूत कर डालता है, इसी प्रकार से थोडा सा भी क्रोध आत्मा के अनेक गुणो से भरे उपवन को भस्मीभूत कर डालता है इस लिये—ऐसे क्रोध से सदा दूर रहना चाहिये ।

२९ अभिमान—यह आत्मा की प्रगति के मार्ग मे पत्थर की भयकर शिला—प्रतिबधक चट्टान रूप है । विनय गुण के अमृत

का यह निनाश करती है । तथा अतरग के विवेक चक्षु पर अध-कार डाल देती है । ऐसे अभिमान से सुज्ञ मानवो को सदा दुर रहना चाहिये ।

३०. माया—यह काली नागिन से भी अधिक भयकर है । काली नागिन का जैसे कोई विश्वास नही करता उसी प्रकार मायावी मनुष्य पर किसी को कभी विश्वास नही होता । इस कारण से माया (कुड-कपट) से सर्वथा दूर रहना यह सर्वजन हित मे है ।

३१. सव वापो का वाप लोभ है । सन्निपात का रोगी जिस प्रकार मानसिक स्वस्थता का विनाश पाता है उसी प्रकार से लोभ के वश में पडा हुआ प्राणी की आत्मा "मम्मन" सेठ की आत्मा के समान अतरग शान्ति को खो वैठती है । इस लिये जीवन को लोभ पिशाच से दूर रहना ही श्रेयस्कर होता है ।

३२ पर पदार्थों के उपर राग-यह आत्मा के लिये महोग-महान अजगर के समान है । ससारी सर्व जीवो को निगल कर खा जाने वाला यह राग, महान अजगर के सिवाय और क्या है ? अनतानत काल के व्यतीत हो जाने पर भी यह आत्मा ससार के भवबंधनो से छुट-कारा पाने में असमर्थ होती है । उसका मुख्य कारण पर पदार्थो पर "राग" ही है । यह राग उपर से मीठा परन्तु अन्दर से आत्मा को खा-खा कर खोखला कर देने वाला महान शत्रु है । ऐसे इस राग के पाश में से दूर रहना इसी मे आत्मा का कल्याण है ।

३३ द्वेष—यह आत्मा के अतरग मे उठनेवाला दावानल । जिस आत्मा में यह भड़क उठता है उस आत्मा को कभी शान्ति प्राप्त नही होती । इस लिये मुमुक्षु आत्माओ को इस दावानल से सदा ही दूर रहना चाहिये ।

३४ कलह – अथवा द्वेष—झगडा सामान्य तौर पर किसी

को भी पसद नहीं । कही यदि इनका—होना भी प्रतीत होता है तो भावुक व्यक्ति उस से दूर ही रहना चाहते है ऐसे सजोगो मे अपनी आत्मा को कलह या द्वेषमय वनाना कौन चाहेगा ? अत इन पापो से सदा दूर ही रहना चाहिये ।

३५ दूसरो को वुरे शब्द कहना, मुह से अपशब्दो (वुरे) का उच्चारण करना निर्दोष आत्मा के माथे कलक लगाना, इस का नाम अभ्याख्यान है । यह प्रवृति आत्मा को दूषित करने वाली है इस लिये इस अभ्याख्यान पाप से दूर रहने से ही आत्मा को लाभ होता है ।

३६ एक दूसरे की चुगली— चाटी करनी, दूसरो को न कहने योग्य किसी के गुप्त भेद को दूसरे के पास कहना यह पैशुन्य कहलाता है । इस पाप से कई दूसरे अनर्थ खडे हो जाते है और यह परपरा सी वन जाती है । इस लिये इस पाप मे सदा दूर रहना चाहिये ।

३७ शरीर-—इन्द्रिया तथा मन के अनुकूल विषयो की प्राप्ति में आनन्द तथा प्रतिकूल विषयो की प्राप्ति मे दीनता, नाराजी इस पाप का नाम रति—अरति है—यह एक प्रकार का आर्तध्यान है । इस से माया वधन की वृद्धि होती है और परिणाम स्वरुप मानवता में पशुता आ जाती है । इस लिये इस से सदा दूर ही रहना चाहिये यही समुचित है ।

३८ पर परिवाद— अथवा दसरे के प्रति अवर्णवाद—निदा—का कार्य करना । अरे भाई । निदा करनी ही है तो अपने दोषो—दुषणो को करो । दुसरो के दुषण या दोषो की निदा क्या करनी ? यदि अपनी आत्मा को निर्मल वनाना है तो अपनी ही आत्मा के धोवी वनो । निदा का अर्थ है, दूसरो की गदगी से अपने स्वच्छ शरीर

को गंदा करना, दूषित करना, इस लिये ऐसा पाप करना ही क्यों ? इस लिये—ज्ञानवंतों को इस पर परिवाद से दूर ही रहना चाहिये ।

३९ माया यह मनका विषय था, मृषावाद (असत्यवचन) यह वाणी का विषय था, जब ये दोनों पाप एक साथ मिल गए तो इन दोनों के संयोग से एक नया पाप बन गया । अर्थात् "माया-मृषावाद" अर्थात घाव से पहले से ही था गहरा अब उस मे और नमक भर गया । ऐसी यह स्थिति है ।

४० इस पाप की भी यही दशा है । इस लिये उनसे दूर ही रहना चाहिये । अठारहवे पाप का नाम मिथ्यात्व शल्य पूर्व के सत्रह पापों का उद्भव इस अठारहवे पाप स्थानक से होना है । यदि इस एक पाप का जोर होता है तब तक ही दूसरे पापों का भी जोर रहता है । यदि इस पाप का अभाव होने लगता है तो दूसरे पाप अपने आप विनाश को प्राप्त होते हैं । "पाप को पाप न समझना और यदि कभी इस पाप को पाप समझाने का योग मिले भी तो उस पाप से दूर रहने की इच्छा ही पैदा न हो" यह इसी अठारहवे पाप का परिणाम है । इस के जैसा भयंकर पाप दूसरा कोई नही है । अनंत काल से इस पाप का भूत आत्ममंदिर मे घर कर के बैठा है । जितना जल्दी हो सके- इस पाप से छुटकारा हो जाय और हम इस से बच जाए ऐसा यत्न करना चाहिये ।

४१ इन अठारह पापों से यदि बचा जाय तो आत्मा को कर्म बंधन से सर्वथा रहित होकर परंपरा से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है ।

यही श्रमण भगवान महावीर का मुख्य उपदेश है ।